TEXT PROBLEM
WITHIN THE
BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178882
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 83·1 | M67M Accession No. H 2445

Author मिश्र, कन्हैयालाल 'प्रभाकर'।

Title माटी हो गई सोना, 1957

This book should be returned on or before the date last marked below.

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—५६

माटी हो गई सोना

[बल और बलिदानकी जीवन-चेतना देनेवाले
सत्रह अमर अक्षर-चित्र]

श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

सर्वोदय साहित्य मंदिर,
कोठी, (बस-टॅण्ड,) हैदराबाद द.

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

ज्ञानपीठ-लोकोदय-ग्रन्थमाला-सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

प्रथम संस्करण
१९५७ ई०
मूल्य दो रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

समर्पण

प्यारे राणा प्रताप,

तुम जीवनभर जंगलोंमें भटके। तुम्हें न सुख मिला, न सफलता और एक दिन जंगलोंमें ही तुम्हारा जीवन एक साधारण जीवनकी तरह समाप्त हो गया। तुम दिल्लीके तख्तसे समझौताकर सुख-सफलता पा सकते थे, पर तुमने बुद्धिकी यह बात कभी नहीं मानी!

प्यारे त्रात्स्की,

तुम रूसकी महान् क्रान्तिके पिता थे और उचित था कि लेनिनके बाद तुम्हीं देशकी पतवार सँभालते, पर तुम निर्वासित रहे, दर-दरकी ठोकरें खाते फिरे और अन्तमें तुम्हारा महान् मस्तिष्क कुल्हाड़ीसे चीर दिया गया। तुम स्टालिनसे समझौताकर सुख सफलता पा सकते थे, पर बुद्धिकी यह बात तुमने कभी नहीं मानी।

मेरे प्रताप, मेरे त्रात्स्की,

तुम्हारी अ-बुद्धियोंने मुझे जीवनभर प्रेरणा दी और मैंने बाहरी सुख-सफलताओंको कभी क्षणभर और कणभर भी महत्त्व नहीं दिया। तुम्हारा ऋण उतारनेकी क्षमता मुझमें नहीं: मैं तो शहीदोंकी ये जीवन-कथाएँ श्रद्धाञ्जलि रूपमें ही तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

परिचयके बोल

मृत्यु जीवनका अन्त है, यह उनकी राय है, जो जीते नहीं, जिन्हें जीना पड़ता है !

मृत्यु जीवनकी विवशता है, यह उनकी राय है, जिन्हें और चाहे जो आये जीना नहीं आता !

मृत्यु जीवनका मूल्य है, यह उनकी राय है, जिन्हें जीवनका ज्ञान है कि वह है क्या ?

पर मृत्युसे हम अपने जीवनका पूरा मूल्य वसूल करेंगे, यह उनकी घोषणा है, जो जीवनको जीनेकी तरह जीते हैं ।

ये ही हैं, जो मृत्युको ठीक तरह पहचानते हैं; क्योंकि इनकी दृष्टिमें मृत्यु जीवनकी मित्र है और वही है, जो जीवनको सच्चा जीवन बनाये ।

अगले पन्नोंमें देश-विदेशके कुछ मानव जी-जाग रहे हैं और कोई चाहे, तो उससे वे बातचीत भी करते हैं ।

ये मानव वैज्ञानिक सत्य है कि कभीके मर चुके, पर एक आध्यात्मिक सत्य है कि आज भी वे जीवित हैं और सदा जीवित रहेंगे ।

उनका सन्देश है कि मृत्यु उसे खाती है, जो उससे डरता है और उसे खिलाती है, जो अपने क़दमों उसके द्वार आ पुकारता है !

इस सन्देशके सुने जानेकी आज आवश्यकता है ।

सुने जानेकी, पर सिनेमाके गीतकी तरह नहीं, मन्त्रकी तरह, जो हृदयमें समाये और आचरणमें आये !

मृत्यु विश्वव्यापी तत्त्व है, पर उसके सम्बन्धमें सबसे बड़ी बात भारतमें ही कही गई है—"मनुष्य जिस तरह अपने पुराने वस्त्र उतारकर, नये पहन लेता है, उसी तरह एक देहको छोड़कर वह दूसरी धारण करता है !"

इस सन्देशके सुने जानेकी आज गम्भीर आवश्यकता है; क्योंकि भारतीय राष्ट्रका मानस मृत्युके भयसे यों अभिभूत हो उठा है कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र ही कुण्ठित हो चला है।

मृत्युका भय जीवनके मोहको जन्म देता है और जीवनका मोह आराम-सुविधाकी लिप्साको और तब मनुष्य इस तरह जीने लगता है कि बस वह एक मनुष्य है और पूरे समाजसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसे अपना सुख चाहिए और बस अपना ही सुख !

इसे यों कहें कि तब उसकी मूल वृत्ति होती है शोषण—दूसरोंको खाकर पनपना और मिट जाती है उसकी मानवीय यज्ञवृत्ति कि वह दूसरोंके लिए जिये और उत्सर्ग हो।

पर-दृष्टि, पर-चिन्ता ही राष्ट्रीय चरित्र है और वह न रहे, तो राष्ट्रका अस्तित्व भले ही बना रहे, व्यक्तित्व कहाँ रहेगा ?

इन कथाओंमें इस व्यक्तित्वका पोषण है और यहीं मैं कहता हूँ कि ये कथाएँ भारतकी नई पीढ़ीके लिए एक सुन्दर उपहार हैं।

× × ×

ये कथाएँ इतिहासकी हैं—घटित घटनाएँ हैं; मेरी कल्पनाका वैभव-चमत्कार नहीं, पर क्या मैं एक 'स्टेनो' ही हूँ कि इतिहासका 'डिक्टेशन' मैंने कागज़ पर ले लिया ?

मैं भला इस प्रश्नपर हाँ कैसे कह सकता हूँ ?

जर्मन दार्शनिक नीत्शेका एक उद्धरण युगों पहले कहीं पढ़ा था, जो इस प्रकार है—

"जो भी साहित्य लिखा जाता है, उसमें मैं वही पसन्द करता हूँ, जिसे आदमी अपने ख़ूनसे लिखता है। हे साहित्यिक, तू अपनी रचनाएँ एक बार अपने ख़ूनसे लिख। फिर तू समझेगा कि ख़ून ही साहित्यकी आत्मा है।"

मैं साहित्यकारकी सम्पूर्ण ईमानदारीके साथ इस स्थितिमें हूँ

कि कहूँ—इन कथाओंको मैंने अपने ख़ूनसे लिखा है; कलेजेके ख़ूनसे, आत्माके ख़ूनसे और कलेजेका वह ख़ून ही इन कथाओं की कला है।

इन कथाओंके पात्र मेरे लिए कभी कोरे पात्र नहीं रहे—वे मेरे निकट सदा सजीव बन्धु रहे हैं। मैंने उनके साथ बातें की हैं, मैं उनके साथ रोया-हँसा हूँ और हँसीकी बात नहीं, फाँसी भी चढ़ा हूँ, जीतेजी जला भी हूँ! शायद कोरा अहङ्कार ही हो, पर मुझे तो सदा यही लगा है कि वे इतिहासके कङ्काल थे, मैंने उन्हें अपना रक्त-मांस देकर यों खड़ाकर दिया है। इस स्थितिमें भारतकी नई पीढ़ीको जब आज उन्हें भेंट कर रहा हूँ, तो अपना रक्त ही तो भेंट कर रहा हूँ। मेरी शुभ कामना है कि मेरे देशकी नई पीढ़ी मेरे इस रक्तसे तरोताज़ा हो जीवनके क्षेत्रमें आगे बढ़े!

× × ×

एक ज़रूरी बात—यों हर शीर्षकके नीचे एक पात्र है, पर हम उसे एक पात्र ही मान लें, तो उसकी कहानी ही पढ़ पायेगें, उसे समझेंगे नहीं, अपनायेगें नहीं, पायेंगें नहीं!

तो हम समझें कि हर पात्र एक विशिष्ट युगका प्रतिनिधि है, प्रतीक है। कांग्रेसके झण्डेके नीचे राष्ट्रने भारतकी स्वतंत्रताके लिए जो बलिदान किया, सत्यवती बहनमें वही तो केन्द्रित है और भारतकी स्वतंत्रताके बाद उस स्वतंत्रताको स्थित रखनेके लिए जो बलिदान हुआ, भाई शोइब उसीकी तो एक तस्वीर हैं। सब पात्रोंको पाठक यों ही पढ़ें-परखें-पहचानें!

× × ×

बुधारू और पुनियाका स्कैच भाई कन्हैयालाल भूसियाने लिखा था कि मैंने उसे अपने ढंग पर कर लिया और पुस्तकके नामकरणका श्रेय श्रीमती विद्यावती कौशलको है, पर दोनोंको धन्यवाद देनेकी शक्ति मुझमें नहीं!

बस!

विकास लिमिटेड
सहारनपुर : उत्तरप्रदेश

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

विषय-क्रम

१. चयार्लीमके ज्वारकी लहरोंमें	...	६
२. रूसके दमन-दावानलकी उन लपटोंमें	...	१७
३. अबिसीनियाके उस सूने शहरमें	...	२३
४. लाल अंगारोंकी उस मुसकानमें	...	३०
५. जलती चिताकी उस गोदमें	...	३६
६. ग्रीसके उन तूफ़ानी दिनोंमें	...	४२
७. स्वतन्त्रता और संहारके उन अद्भुत क्षणोंमें	...	४६
८. रोमकी उस अँधेरी दुनियामें	...	५१
९. जेलकी उन डरावनी दीवारोंमें	...	५९
१०. पेरिस झीलकी उस भयानक संध्यामें	...	६३
११. मानवीय पशुताकी उस बाढ़में	...	६९
१२. झूठके उस कड़वे धुएँमें	...	७७
१३. रेलके पहियोंकी घड़घड़ाहटमें	...	८४
१४. पहाड़की उन चोटियोंसे नीचे	...	९१
१५. शहादतकी ज़िन्दगीके तूफ़ानमें	...	९६
१६. अखण्ड भारतकी ब्रह्मवेलामें	...	१०४
१७. प्रतिहिंसाके उन पावन क्षणोंमें	...	११२

बयालीसके ज्वारकी उन लहरोंमें

- हम उन दिनों घहरा रहे थे, वे उन दिनों घबरा रहे थे !
- हम उन दिनों पूरे जोशमें थे, वे उन दिनों पूरे ज़ोरमें थे !
- उनकी महानता अस्त होनेके खतरेमें थी, हमारी महानता फिरसे जन्म लेनेकी सम्भावनामें !
- उनके साथ लगभग एक शताब्दीमें संजोयी सैनिक शक्ति थी, हमारे साथ लगभग एक शताब्दीमें सुलगायी विद्रोही भावनाकी आग !
- दाव चूकनेमें उनकी मौत थी, दाव चूकनेमें हमारी घोर पराजय !
- वे अपनी उखड़ती जड़ जमानेमें जुटे थे, हम अपनी सदियोंसे उखड़ी पड़ी जड़ जमाने में !
- हमारा उखड़ना ही उनका जमना था, हमारा जमना ही उनका उखड़ना था !
- वे थे हमारे शासक अंग्रेज़, हम थे उनके शासित भारतवासी !
- और यों हम दोनों १९४२ में जान-जानकी बाजी खेल रहे थे !
- हमारी देश-भक्तिका नारा था —निकल जाओ यहाँसे, उनकी सैन्य शक्तिका उद्घोष था —क्यों निकल जाएँ ?
- फैसले बहुत हो चुके थे, इसबार किसी एकको मिटना था, इसलिए न वे कोई कोर-कसर छोड़ रहे थे, न हम !
- अतीत साक्षी है—वे जीत गये, हम हार गये !
- वर्तमान साक्षी है—वे जीत कर हार गये, हम हार कर जीत गये !
- इतिहास साक्षी है कि वे ऐसे गये कि एक बात हो गई !
- संसार साक्षी है कि हम ऐसे जमे कि एक चमत्कार हो गया !

आठ अगस्त १९४२ को बम्बईमें राष्ट्रीय महासभाने 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास किया और नौ अगस्त १९४२ को प्रातःकाल महासभाके नेता और कार्यकर्त्ता देश भरसे चुन चुन कर जेलोंमें बन्द कर दिये गये। हमारे शत्रुओंने आपसमें कहा—अब यह टण्टा हमेशाको मिटा और इस देशमें ऐसा अब कोई नहीं बचा, जो जनताको बग़ावतकी सीख दे। २-४ भुनगे इधर-उधर हो गये हैं, पर इससे क्या; आज नहीं तो कल, हमारी छिपकलियाँ उन्हें चाट, चटखारा ले लेंगी!

भारतके शत्रुओंका सबसे बड़ा भरोसा यह था कि बयालीसकी बग़ावत-का नक्शा अभी जनताके सामने नहीं आया था, क्रान्तिके प्रधान पुरोहित महात्मा गांधीके बस्तेमें ही था कि वे अपने बस्तेसहित पकड़ लिये गये थे! क्या यह सम्भव है कि गांधीजीने उस नक्शेकी कापियाँ पहले ही अपने सिपाहियोंमें बाँट दी हों? अंग्रेज़ी शासनके मस्तिष्कने इस प्रश्नपर विचार किया था और अन्दाज़को लम्बीसे लम्बी ढील देकर गिरफ्तारीके लिए सूची बनाई थी। उसे विश्वास था कि अब ऐसा कोई आदमी जेलसे बाहर नहीं, जिसके पास वह नक्शा हो! 'हमने पैदा होनेसे पहले ही क्रान्तिके शिशुको दबोच लिया!' यह शासनके मस्तिष्ककी वाणी थी। ओह, किसी दिन कंस भी कृष्णके सम्बन्धमें यों ही निश्चिन्त होकर सो गया था।

इस निश्चिन्ततामें भी अंगरेज़के मन पर एक बोझ था—इस निरीह देश पर उसके द्वारा किये गये अत्याचारोंका बोझ! वे द्वितीय महायुद्धके दिन थे—उसे संसारमें अपनी साख भी रखनी थी। भारत-मंत्री एमरीने इंगलैण्डके रेडियोसे संसारको अपने इस व्यापक दमनका एक 'जस्टीफिके-शन' दिया! उसने कहा—कांग्रेसने एक भयङ्कर क्रान्तिका प्रोग्राम बनाया था; जिसमें स्टेशन फूँकना, लाइनें तोड़ना, थानों पर कब्ज़ा करना और तोड़-फोड़ और फूँका-फूँकीका हिंसात्मक कार्यक्रम भी था, इसीलिए हमें सब कांग्रेसियोंको एक साथ पकड़ना पड़ा!

इस भाषणने देशको नया प्रकाश ही नहीं दिया, नया बल भी दिया। नेताओंकी सामूहिक गिरफ्तारीसे जनताके हृदयोंमें जो आग सिन्धड़ी थी, वह एमरीके भाषणसे भड़क उठी। जोश तो था ही, राह भी अब अन्धेरेमें न रही और बिना किसी नेतृत्वके जनता उभरकर खड़ी हो गई।

इस उभारमें एक हुंकार थी—क्या कहते हो तुम, कि यह टण्टा हमेशाको मिटा और इस देशमें ऐसा अब कोई नहीं बचा, जो जनता को बग़ावतकी सीख दे। २–४ भुनगे इधर-उधर हो गये हैं; पर इससे क्या; आज नहीं, तो कल हमारी छिपकलियाँ उन्हें चाट, चटख़ारा ले लेंगी!

सुनो, हमें किसी सीखकी ज़रूरत नहीं। विद्रोहके नाग अब जाग उठे हैं, जो तुम्हारी इन छिपकलियोंको एक ही सपाटेमें सटक जायँगे और तुम्हें ऐसा डसेंगे कि तुम अपने वारिसोंके नाम वसीयत भी न लिख सको।

यह हुंकार कोरी हुंकार न थी, इसके पीछे जीवन-ज्वालाकी लपलपाती लपटें थीं। अंगरेज़ी शासनकी शक्तिके केन्द्र पुलिस-थाने, डाकघर, स्टेशन, इन लपटोंमें पड़ स्वाहा हो चले। केन्द्रोंका सम्बन्ध देहातोंसे कट गया और अंगरेज़ी शासनके हाथ-पैर सन्नाटेमें आ गये। सारा देश युद्ध-भूमिमें परिणत हो गया—जो न लड़े ग़द्दार!

देखते-देखते छोटे-छोटे देहातों तककी गलियाँ गूँज उठीं—

रणभेरी बज उठी बीरवर, पहनो केशरिया बाना!
मिट जाओ वतन पर इसी तरह जिस तरह शमा पर परवाना!!

माताके वीर सपूतों की
हाँ, पूतोंकी, हाँ पूतोंकी,
आज कसौटी होना है!
देखें कौन निकलता है पीतल
और कौन निकलता सोना है!

उतरेगा, जो आज युद्धमें वही वीर है मरदाना !
रणभेरी बज उठी वीरवर, पहनो केशरिया बाना !!

उन्हीं दिनोंका एक दृश्य इस प्रकार है—

बिहारकी राजधानी पटनामें उस दिन कोई भी चिड़ियोंकी चहक सुनकर नहीं जागा। चिड़ियोंके जागनेसे पहले ही वहाँकी गलियाँ विद्यार्थियोंकी प्रभात-फेरीके संगीत और नारोंसे गूँज उठी थीं —

धन धन है उन्हें जो भारत पे, अपना तन मन धन वार चुके !
भारत के लिए बेचैन हुए, भारत के लिए बलिदान हुए !!

ओह, मृत्युके प्रति छोटे-छोटे विद्यार्थियोंमें कैसी निश्चिन्तता थी—

शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले !
वतन पर मरने वालों का यही बाक़ी निशाँ होगा !!

कायरताके लिए उनमें कैसी करारी ललकार थी—

गर डर है तेरो फौलादीका, तो नाम न ले आज़ादी का,
मातम है, इस जा शादी का, ये मन्जर है बरबादी का,
कुछ करना है, तो करके दिखा और जीना है तो मरके दिखा,
नासूर को मेरे भर के दिखा या जौहर ही खन्जर के दिखा !

कुछ करके दिखानेवालोंकी यह भीड़ दोपहरको बिहार सरकारके सेक्रेट्रियेटकी ओर चली। भीड़के पैरोंतले साफ़-सुथरी, सीधी सड़क थी, पर उसकी यात्रा आसान न थी। रास्तेमें पुलिसकी टोली और कोई अफ़सर मिलता और भीड़को रोककर कहता—बस लौट जाओ, पर यह सरकारी नहर न थी जो इशारों पर घटती, बढ़ती और रुकती—यह तो बरसाती नदी थी; फिर ये तो जवानीकी बाढ़के दिन थे !

अफ़सर गुस्सेमें भर जाता और उसके हुक्मपर सिपाही लाठियाँ बरसाते। सिर फूटते, हड्डियाँ टूटतीं, लोग बेहोश हो जाते। मारनेवालोंमें पूरे हाथों भी थे, तो अधूरे दिलों भी थे। वे भी थे, जो हुक्म पानेको बेचैन रहते और वे भी थे, जो हुक्म पाकर भी कन्नी काट जाते। भीड़

कुछ छितर जाती, पर लोग फिर आ जुटते, नये नारे फूटते, जोश फिर उबाल खा जाता, भीड़ फिर आगे बढ़ने लगती।

योंही रुकते, बढ़ते, पिटते, उमड़ते यह भीड़ सेक्रेट्रियेट पर पहुँची तो देखा अंगरेज़ जिलाधीश गोरखा पल्टनकी टुकड़ी लिये वहाँ पहलेसे मौजूद है। उसे देखकर कोई डरा नहीं, खिसका नहीं, उल्टे लोग और भी जोशमें भर गये—

नहीं रखनी सरकार, भाइयो, नहीं रखनी !
अंगरेज़ी सरकार भाइयों, नहीं रखनी !!

नारोंकी गूँज ऐसी थी कि पेड़-पत्ते तक बोल-से उठे—हिन्दुस्तान छोड़ जाओ ! क्विट इण्डिया ! इनक़लाब ज़िन्दाबाद !

अपने राष्ट्रका तिरंगा झण्डा लिये कुछ किशोर गोल गुम्बदकी ओर बढ़े, तो गोरखा फौजने दीवारकी तरह अपनेको सामने कर दिया।

अंगरेज़ जिलाधीशने पूछा—"आख़िर, तुम लोग क्या चाहते हो ?"

एक विद्यार्थीने उभरकर कहा—"हम सेक्रेट्रियेट पर अपना झण्डा लगायेंगे।"

"वहाँके लिए यह झण्डा नहीं है, वहाँ यूनियन जैक फहराता है।" हिन्दुस्तानकी ग़ुलामी पर उस जिलाधीशने एक कड़वा व्यंग किया।

"अब वहाँ यूनियन जैक नहीं फहरा सकता, यह तिरंगा ही वहाँ फहरायगा।" विद्यार्थीने कहा।

अंगरेज़ तमतमा उठा—"ऐसा कभी नहीं हो सकता; जाओ भाग जाओ।"

"हम तो झण्डा फहराकर ही लौटेंगे।" एक दूसरे विद्यार्थीने कहा।

"हूँ !" अंगरेज़का अहंकार गुर्रा उठा—"तुममें जो झण्डा फहराना चाहता हो, वह आगे आये।"

ग्यारह विद्यार्थी भीड़से बाहर हो, एक साथ आगे बढ़ आये; उनका कार्य ही उनका उत्तर था। इन ११ में सबसे आगे जो विद्यार्थी था,

उसकी देहने अभी अपनी १४ वीं वर्षगाँठ भी न मनाई थी, पर उसके कन्धोंका तनाव ऐसा प्रचण्ड था कि पहाड़के शिखर भी देखें, तो शरमा जायें।

"तुम भी फहराओगे झण्डा ?" राक्षसी क्रूरतासे अंगरेज़ जिलाधीशने पूछा।

"हाँ, क्यों नहीं।" भारतकी आत्मा उस बालकके कण्ठसे कूक उठी।

११ भोले किशोर एक पंक्तिमें खड़े थे। उनके एक ओर थी गोरखा फौज, दूसरी ओर घोड़ेपर चढ़ा अंगरेज़ जिलाधीश; वातावरण सन्नाटेमें था। "फायर !" जिलाधीशने आदेश दिया कि ११ गोरखे आगे बढ़े। वे आगे बढ़े कि एक साथ ११ राइफलें उभरकर गरजीं—"धड़ाम !"

जीते-जागते ११ राम-लक्ष्मण पल मारते धरती पर गिर पड़े, ख़ूनसे लथपथ, पर शान्त !

"फायर !" फिर वह चिल्लाया और सिपाहियोंने गोलियाँ दागीं—बहुतसे लोग घायल हो गिर पड़े, पर भागा कोई नहीं, पीछे हटा कोई नहीं !

"क्विट इण्डिया ! भारत छोड़ो ! इन्क़लाब ज़िन्दाबाद !" कहीं आकाशमें किसीने अपने कोमल कण्ठसे ये स्वर भरे कि भीड़में नई लहर आ गई।

जाने किधरसे एक विद्यार्थी सेक्रेट्रियेटके गुम्बद पर जा चढ़ा और उसने तिरंगा झण्डा फहराकर वहींसे ये नारे लगाये !

अंगरेज़ जिलाधीशका मुँह एकबार तो काला पड़ गया और तब किटकिटाकर उसने कहा—"फायर !"

वह किशोर टूटते तारे-सा धरती पर आ गिरा ! अस्पतालकी मेज़पर उसने पूछा—"मेरे कहाँ गोली लगी है ?"

"छातीमें !" डाक्टरने कहा।

"तब ठीक है, मैंने पीठपर गोली नहीं खाई !" उसने कहा और हमेशाको आँखें मूँद लीं।

इन शहीदोंकी देहसे जो गोलियाँ निकलीं, वे 'दमदम बुलेट' थीं—अन्तर्राष्ट्रीय विधानके अनुसार इन गोलियोंका प्रयोग युद्धोंमें भी वर्जित है, पर अंग्रेजी शासनके लिए उन दिनों न नियम थे, न पाबन्दियाँ। गोली मारना, जेलमें ठूँस देना, पीटना, घर फूँकना, गाँव उजाड़ देना और जाने क्या-क्या मामूली बात थी।

उन्हींके एक आदमीके शब्दोंमें—"पुलिस और फौजको गाँवोंमें खुलकर खेलनेके लिए छोड़ दिया गया था। नेशनल वारफ्रंटके लीडरकी हैसियतसे अपने ज़िलेके गाँवोंमें घूमते समय मुझे फौज और पुलिसके अत्याचारों, जनताकी सम्पत्तिकी लूट-खसोट, गाँवोंको जलाने, गिरफ्तारीका भय दिखाकर रुपये ऐंठने और कभी-कभी वसूलीके लिए घोर यन्त्रणाएँ देनेकी भी अनेक रिपोर्टें मिली हैं।

पुलिस-द्वारा लूटी गई दूकानें तथा जलाये गये गाँवके गाँव मैंने अपनी आँखोंसे देखे और मैं मन्जूर करूँगा कि वे दृश्य मरते समय भी मेरी आँखोंके सामने नाचते रहेंगे। जब मैं एक सभामें सम्मिलित होने जा रहा था, तो मेरी ट्रेन एक स्टेशन पर रुकी। मैंने देखा—एक गोरा एक कुत्तेपर निशाना साध रहा है। यह निशाना चूक गया; क्योंकि कुत्ता बहुत दूर था !

मैंने सोचा—बिहारमें इस गोरेके भाई-बिरादर ज्यादा भाग्यशील हैं; क्योंकि उनके निशाने उन्हें बहुत ही नज़दीक मिल जाते हैं। आजकल बिहारमें आदमी और कुत्तेमें बहुत ज्यादा फर्क नहीं रह गया है।" जो बात बिहारके सम्बन्धमें कही गई है, वह सारे देशके सम्बन्धमें भी उतनी ही सच थी।

यह नृशंसता किस सीमा तक बढ़ी हुई थी, इसका एक उदाहरण उसी पटनेकी छातीपर अंगारोंसे खुदा हुआ है।

रामसिंह पटनाके एक प्रतिष्ठित नागरिक थे। गोरे-फौजी घूमते-घामते एक दिन उनके साफ़-सुथरे घरमें घुस आये। उनका अपराध क्या था; यह कोई नहीं जानता, पर उन्हें जो दण्ड दिया गया, उसे सुनकर नरकका दारोगा भी झेंप जायगा।

लोहेके नोकदार खूँटेपर, जबर्दस्ती उन्हें गुदाके सहारे बैठाया गया और दो गोरे सिपाहियोंने उनके कन्धोंपर अपना पूरा ज़ोर डालकर उन्हें तब तक दबाया, जब तक कि वह खूँटा उनके पेट, कलेजे, कण्ठ और खोपड़ीको फोड़कर ऊपर नहीं निकल गया!

क्रूरताकी पराकाष्ठा तब हुई, जब ये गोरे खूँटेमें ठुकी उनकी लाशको, अपनी किसी कलाकृतिकी तरह कई दिन इधर-उधर दिखाते फिरे!

यह १० अगस्तसे १५ अगस्तके बीचकी बात है। उस दिन जो बेदर्द और बेहया होकर दनादन गोलियाँ दाग रहे थे, उन्हें क्या पता था कि आजसे ठीक ५ वर्ष बाद १५ अगस्त १९४७ को यह बेचारा यूनियन जैक यहाँसे इस तरह खिसक जायगा, जैसे थर्ड क्लासके टिकटका मुसाफिर फर्स्ट क्लासमें बैठा हो और टिकट चैकर आ जाय, तो देखते ही चुपकेसे खिसक जाता है और यहाँ यही तिरंगा झण्डा इस शानसे लहरायगा कि आकाश-गंगाकी लहरें भी उसकी फहरान देखनेको एक बार ठहर जायँगी!

रूसके दमन-दावानलकी उन लपटोंमें—

सन् १९०५ उन दिनों अपने उत्तराधिकारीको अपना चार्ज देने की तैयारी कर रहा था। रूसकी जनता वहाँके कुशासनसे तंग थी। निरङ्कुश दमनने खुले आन्दोलनका द्वार सदा के लिए बन्द कर दिया था। जनतामें भीतर ही भीतर असन्तोषकी ज्वाला सुलग रही थी। समय पाकर वह कुछ बिखरेसे रूपमें रूसके तम्बोफ़ सूबेमें भड़क उठी। जगह-जगह विद्रोहकी घोषणा कर दी गई। ज़ारका साम्राज्य हिल उठा। इस प्रदेशके शासक लुजेनोवस्कीने शासनकी दर्पमयी निद्रासे चौंककर यह देखा, मदने उसे उकसाया और अभिमानने उसे प्रेरणा दी। दमनकी आँधी और भी प्रबल वेगसे धाँ-धाँ कर उठी।

ओह! अत्याचारके साकार स्तूपसे वे कज़्ज़ाक सिपाही जिसे देखते पकड़ लाते, छुरेंसे उसे भून डालते, संगीनोंपर उछालते और चौराहोंपर फेंक देते। जिसे चाहते लूट लेते, जिसका चाहते घर फूँक देते और जब चाहते सुन्दर युवतियोंको पकड़ लाते और खुलेआम उनका सर्वस्व लूटते! लुजेनोवस्की यह सब सुनता, इसकी तारीफ़ करता और खुश होता। चारों ओर निर्लज्जता, पैशाचिकता और अराजकताकी तामसी तमिस्रा छाई हुई थी।

प्राणोंका सौदा करनेवाले पागल युवकोंकी गुप्तसमिति इस स्थितिपर विचार करने बैठी। लुजेनोवस्की उनकी आँखोंका काँटा था। दलपतिने गम्भीर स्वरमें कहा—"उस शैतानको शफे हस्तीसे मिटा देना ही उसके इन कारनामोंका सच्चा पुरस्कार है।" ठीक है, पर बिजलीके नंगे तारसे जूझनेका यह नाटक कौन खेले? दलमें एक सन्नाटा छा गया। सभी लोग सिर झुकाये जीवन और मरणकी उस झाँकीका चिन्तन-सा करने

लगे। निस्तब्धताके इस घने वातावरणमें एक बिजली-सी कौंध गई—"मैं चाहती हूँ, यह काम आप लोग मुझे सौंपकर, निश्चिन्त हो जाँय।" लोगों ने आँखें उठाकर देखा—२० सालकी पतली-सी एक कुमारी, दलकी सदस्या मेरी स्पिरिडोनोवा स्वेच्छासे अपने और अरिके प्राणोंका सौदा तोलनेकी उद्घोषणा कर रही है; जैसे महामाया देवताओंके दलमें शुम्भके वधका आश्वासन दे रही हो।

रहस्यका स्फोट कहाँ नहीं हुआ? लुजेनोवस्की तक भी न जाने कैसे समितिका यह प्रस्ताव पहुँच गया। मेरी स्पिरिडोनोवा जेल काट चुकी थी। पुलिसके रजिस्टरमें उसका नाम और हुलिया चढ़ चुका था। यह सूचना पाते ही वह उसके फ़िराकमें चक्कर काटने लगी, पर मेरी न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई—वेष बदलनेकी निपुणताके कारण वह तम्बोफ़में रहते हुए ही पुलिससे आँख-मिचौनी खेलती रही।

महीने बीत गये। बारह फ़ायरका माउज़र मेरीस्पिरिडोनोवाकी छातीसे लगा, मुहूर्तकी प्रतीक्षा करता रहा, पर पुलिस चौकन्नी थी, लुज़ेनोवस्की सावधान था और उसके बलिष्ठ अंगरक्षक सन्नद्ध थे; वह मुहूर्त न मिला, पर वह निराश न हुई और बराबर उस शैतानकी गति-विधिका अध्ययन करती रही।

उस दिन १९०६ की १६ जनवरी थी। लुजेनोवस्की शस्त्र-शक्तिसे सम्पन्न एक ट्रेनसे बौरीसौगिलब्रूक जा रहा था। उसका कम्पार्टमेण्ट सुरक्षित था और वह निश्चिन्त, पर उससे अगले ही सेकेण्ड क्लास कम्पार्टमेण्टमें तम्बोफ़के शाही महाविद्यालयकी यूनिफ़ार्ममें मेरी स्पिरिडोनोवा बैठी जा रही थी, इसे कौन जानता था?

बौरिसौगिलब्रूकका स्टेशन आया। कज्ज़ाक सिपाहियोंकी लाठियोंने बरसकर प्लेटफार्मको कुछ ही क्षणोंमें मुसाफिरोंसे खाली कर दिया। गाड़ीके मुसाफिर अपने-अपने डिब्बोंके दरवाज़ों पर खड़े यह तमाशा देख रहे थे। इन्हींमें एक मेरी भी थी। प्लेटफार्मकी जाँचके बाद शाही चोग़ोंसे सुसज्जित

गवर्नर लुजेनोवस्कीने दर्पसे अपना क़दम प्लेटफार्म पर रक्खा। दोनों तरफ़ घूमती आँखों वाले अंगरक्षकोंकी दो कतारें थीं और उनके बीचमें था दम्भका वह दैत्य; जैसे त्रिशूलके दो छोटे फलकोंके बीचका उभरा हुआ बड़ा फलक।

बाहर जानेका द्वार मेरीकी तरफ़ था, इसलिए वह उधर मुड़ा। एक क़दम, दो क़दम, धड़ाम! मेरी स्पिरिडोनोवाके माउज़रकी पहली गोली लुज़ेनोवस्कीकी छातीके पार हो गई!

सिपाही सन्न; जैसे अचानक दो रेलगाड़ियाँ टकरा जायँ। धड़ाम! धड़ाम!! धड़ाम!!! छाती और पेटके तीन गोलियाँ तब तक और पार हो गईं! अब सिपाही सँभले, पर न जाने कब मेरी स्पिरिडोनोवा अपने रिवाल्वरकी गोलीकी तरह उछलकर लुजेनोवस्कीके पास पहुँच गई थी। उसका काम पूरा हो चुका था। पाँचवें नम्बर पर उसकी उंगली थी, रिवाल्वरका मुँह उसकी छातीसे लग चुका था, वह आत्माहुतिके लिए तैयार ही थी कि गिरफ्तार हो गई।

पत्थरके उस प्लेटफार्म पर दो मानव पड़े थे। मुमूर्षु लुजेनोवस्की और कज्ज़ाक सिपाहियोंकी राक्षसी मारसे बेहोश सुकुमारी मेरी स्पिरिडो-नोवा! स्टेशनसे दो प्राणी बाहर ले जाये जा रहे थे—अत्यन्त सावधानी और आदरसे सुकुमारशय्या पर अर्धमृत लुजेनोवस्की और अपमान एवं प्रतिहिंसासे पैर पकड़कर ज़मीन पर घिसटती हुई मेरी स्पिरिडोनोवा, पर आज सुकुमारशय्याके उस अधीश्वरकी स्मृति घृणाके अम्बारसे लदी हुई है और अपमानकी उस अधिष्ठात्री वीर बालाका नाम लिखा हुआ है स्वर्णाक्षरोंमें; जाति, धर्म और देशकी संकीर्णताओंसे ऊपर बलिवेदीके उस पवित्र महाग्रन्थमें।

लुजेनोवस्की ले जाया गया, सरकारी अस्पतालमें मृतक घोषित होनेके लिए और मेरी स्पिरिडोनोवा पहुँचाई गई शैतानियतको न्याय-परीक्षाका नाम देनेवाली कोतवालीमें; काँच और कांचनकी अग्नि-परीक्षाके लिए। वह

काल-कोठरीमें बन्द थी मारसे अधमरी, पीड़ासे क्लान्त और किसी भी प्रश्नके अयोग्य, पर उससे पूछे जा रहे थे पचासों प्रश्न ! वह चुप-सी थी—बोल ही न सकती थी। उसका वह मौन अधिकारियोंको असह्य हो उठा। उसे नंगी करके बूटोंसे फुटबालकी तरह उछाला गया, पर इस 'चिकित्सा' से भी वह बोल न पाई, तो दूसरे नुसखेके तौर पर एक पतले कोड़ेसे उसकी खाल उड़ाई गई, पर यह नुस्खा भी असफल रहा, तो मकर-ध्वजके रूपमें अन्तिम खुराक दी गई। उस बेहोश बालाकी देह जगह-जगह गरम लोहेसे दाग़ कर, नुकीली चिमटीसे नोच दी गई, पर उसकी वाणी न खुली—पुलिसको उससे उसके दलका पता न चला, न चला। एक सुकुमार कुमारीसे शैतानियतका सम्पूर्ण ज़ारशाही साम्राज्य हार गया।

ओफ वह काल-कोठरी, वह हण्टर, वह दाह और वे तड़फानेवाले सैकड़ों घाव, पर विधिके विधानकी तरह अटल वह मेरी स्पिरिडोनोवा !

तम्बोफ़की फौजी अदालतमें उसका अभियोग आरम्भ हुआ। बड़ी मुश्किलसे एक दिन उसकी मा उससे मिल पाई। यह मिलन कितना करुण था। मेरीके शरीरपर जगह-जगह पट्टियाँ बँधी थीं। उसकी एक आँख फोड़ दी गई थी और उसका शरीर व्रणोंका एक समुच्चय मात्र था। माका मातृत्व आँखोंसे बरस पड़ा, पर मेरी ममताके इस बवण्डरमें भी स्थिर रही। उसने अपनी मासे कहा—"मेरा मरण अत्यन्त आनन्दमय होगा मा ! मेरे इस मरण-महोत्सवमें विषादकी कहीं कोई रेखा है, तो यही कि मैं वह पाँचवीं गोली न चला पाई।"

खाँसते-खाँसते और खून थूकते-थूकते अदालतमें अपने प्रारम्भिक बयानमें उसने कहा—"जब ज्यादतियाँ यहाँ तक बढ़ गईं कि ग़रीब किसान पिटते-पिटते पागल होने लगे और शीलवती कन्याएँ अपमानकी लज्जामें आत्महत्याएँ करने लगीं, तो मेरी आत्मा मुझे धिक्कार उठी और मैंने प्रतिज्ञा की कि मेरे प्राण जायँ या रहें, लुजेनोवस्की अब संसारमें नहीं रह सकता !"

पुलिसने उसकी पहचानके लिए एक क्लर्क पेश किया, जो उसके साथ बहुत दिन एक ही दफ्तरमें काम कर चुका था, पर उसने उसे देखकर गहरे आश्चर्यसे कहा—"यह ! यह हरगिज़ मेरी स्पिरिडोनोवा नहीं हो सकती !" सचमुच उसकी दशा बहुत ही चिन्तनीय थी—जीवनसे वह क्षण-क्षण दूर हो रही थी, पर अत्यन्त निश्चिन्त और सन्तुष्ट ! अपने अन्तिम वक्तव्यमें जजसे उसने कहा—"अपने सम्बन्धमें भय और आतंकसे मैं निश्चिन्त हूँ। आपके दण्ड-विधानमें सबसे भयङ्कर दण्ड फाँसी है, पर उससे बहुत अधिक भयङ्कर दण्ड मैं भुगत चुकी हूँ। मेरा सन्तोष मेरे साथ है, क्योंकि मेरा विश्वास है कि अन्याय-अत्याचारकी इस भयंकर निशाके अवसानपर समानता, सुख-शान्ति और स्वतन्त्रताका प्रभात अवश्य आयगा। अपनी जनताके इस सुख-शान्तिमय भविष्यके लिए एक छोटे-से जीवनका उत्सर्ग कर देनेसे बढ़कर मेरे लिए और क्या सुख हो सकता है ?"

केस बहुत बढ़िया ढंगपर लड़ा गया। बैरिस्टरने अपनी प्रभावपूर्ण वक्तृतामें कहा—"मेरी स्पिरिडोनोवा दारुण अत्याचारोंसे दुखी राष्ट्रकी भावनाका साकार रूप है।" जज इस केससे अत्यन्त प्रभावित हुए, पर फाउंटेनपेन उनकी थी; उसमें स्याही भरनेका काम ज़ारके हाथमें था। उनकी क़लम उनकी अंगुलियोंमें थी, पर कलाईपर सत्ताका अधिकार था। मेरी स्पिरिडोनोवाको फाँसीकी सजा घोषित की गई। सारे रूसमें इस दण्डाज्ञाका प्रतिवाद हुआ और यह प्रतिवाद फ्रांसकी स्वाधीन भूमिमें भी प्रतिध्वनित हुआ। वहाँ के अनेक प्रतिष्ठित पुरुषोंने अपने हस्ताक्षरोंसे एक प्रतिवाद-पत्र ज़ारके पास भेजकर इस निर्णयके प्रति निन्दा प्रकट की। पहाड़ पिघला, ज्वालामुखीमें शान्ति-सलिलके कुछ छींटे आ पड़े, शासकके दर्प-दीप्त मस्तिष्कमें विवेककी एक रेखा छिटक गई और प्राणदण्ड आजीवन कारावासमें परिणत हुआ ! 'आजीवन कारावास' का यह विधान रचते समय ज़ारके मस्तिष्कमें 'आजीवन' का अर्थ कुछ मास ही था; क्योंकि मेरी उस समय क्षयके मृत्यु-झूलेपर-झूल रही थी, पर विधिके न जाने किस

विधानके अनुसार वह स्वस्थ हो गई और साइबेरिया भेज दी गई।

ओह साइबेरिया! ज़ारशाहीके क़ैदियोंका कालापानी, पर रूसकी स्वतन्त्रताका तीर्थ, भयङ्कर शीतका घर, पर क्रान्तिकारियोंकी ज्वालामुखियोंका केन्द्र!

मार्गमें स्थान-स्थान पर उसका अपूर्व स्वागत हुआ। जब वह साइबेरियाके उस आतंक पूर्ण बन्दीगृहमें पहुँची, तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उसके स्वागतके लिए निर्वासित क्रान्तिकारी उत्सुक थे और आतंक एवं पशुताका आश्रय वह बन्दीगृह लाल झण्डियोंसे सुसज्जित था। यह बन्दी जीवनके विश्वव्यापी महत्तत्व तिकड़मकी ही एक झलक थी। साथियोंका यह सहवास मेरी स्पिरिडोनोवाके लिए और भी स्वास्थ्यकर सिद्ध हुआ, पर शीघ्र ही वह यहाँसे हटाकर एक दूसरे बन्दीगृहमें भेज दी गई।

यह बन्दीगृह! पैशाचिकताके प्रतिबिम्ब अत्याचारी ज़ारकी प्रतिहिंसाका साकार रूप। जीवनको सन्न कर देनेवाला वह सूना एकान्त, क्रुद्ध राक्षसके खुले जबड़ेकी तरह भयंकर भवन और दया एवं मानवतासे शून्य वे जेल-अधिकारी, जैसे कंसके रूसी संस्करण! संक्षेपमें रूसी स्वतन्त्रताका मूल्य चुकाने वाली तराजू! जो यहाँ आया, बिक गया, लौटनेवाला यहाँ आयेगा क्यों?

मेरीने इसे चारों ओरसे देखा और सब कुछ समझ लिया। उसके दाह–श्याम ओठों पर मुसकराहटकी एक रेखा खिंच गई, जैसे ज़ारके अभाग्य-घनपटलमें बिजली चमक उठी। जेलके उस निर्मम रक्षकने ताड़कर उसकी तरफ़ देखा; जैसे कह रहा हो, यहाँ हास्यका प्रवेश निषिद्ध है पगली, पर उसे क्या पता, यह वह हास्य है, जो जातियोंके भाग्यका निर्माण करता है और जो सत्ताके सुदृढ़ दुर्गोंको देखते-देखते खील-खील कर खण्डहर कर देता है।

ओह, काले होंठोंकी वह मुसकराहट! दमन-दानवके महादुर्गकी डायनामाइट!!

अबिसीनियाके उस सूने शहरमें

सभ्य युगके शैतानी साधनोंसे इटलीने अपंग अबिसीनियाको परास्त कर दिया। बुद्धिके महास्तूप उस सम्राट् हेल सिलासीको मुसोलिनीके दर्पदीप्त हुङ्कारों-सी राक्षसी गैस-वर्षाके सामने झुकना पड़ा। युद्धकी घोषणासे पूर्व उसके सामने कुछ शर्तें रक्खी गईं—आज़ादीके मोलपर सुख-सुविधाके कुछ टुकड़े उसके सामने फेंके गये, पर उसने घृणाकी अन्धेरी छाया फेंककर उनकी चमक फीकी कर दी और वीर सत्याग्रहीकी तरह अभिमानके स्वरमें कड़ककर कहा—मूर्ख! अबिसीनियाके सिपाही आज़ादीकी दीपशिखापर पतंगोंकी तरह जलकर राख हो जाना जानते हैं, सरकसके शेरोंकी तरह हण्टरोंके सपाटेमें कला करना उन्हें नहीं आता!

"ओ, दीपशिखाके पतंगे! ये देख मेरे मोटर और मैशीनगनें!" इटलीका अभिमान गरज उठा, पर अबिसीनियाके चक्करदार बीहड़ पथोंमें टकराकर उसकी यह गर्जना चुप हो गई।

"रास्तोंका यह मायाजाल सोलहवीं शताब्दीका अभिमान था। आज रणचण्डीका नर्तन साधे हुए मैदानोंमें नहीं होता, दुर्गोंकी दुर्गमताका अजेय अभिमान अब टूट चुका, मृत्यु-सुन्दरी अब आकाशके अमित प्रांगणमें, अपने बम भरे विमानोंमें अरिके प्राणोंका संकलन कर थिरका करती है।" इटलीकी धमनियाँ धमक उठीं।

अबिसीनियाके हठीले होठोंपर मुसकानकी एक मन्द रेखा छिटक गई, पर गम्भीरताके आँचलमें झाँककर उसके भीतरकी सान्त्वनाने कहा—"मेरे अजेय पर्वतोंकी इन घनी कन्दराओंमें तेरे बम और विमानोंका प्रवेश असम्भव है पागल!"

इटलीका सैन्य-बल गम्भीर हो उठा। उसके मुख-मण्डल पर विह्व-

लताकी कमान झलक उठी। ज़रा सोचकर उसने कहा—"खैर, तेरी कन्दराओंका इलाज भी मेरे पास है।" ज़हरीले गैसोंकी तरफ़ उसका संकेत था, पर सम्राट्की जेबमें राष्ट्रसंघकी युद्ध-नियमावली पड़ी थी। उसकी लोहेकी जिल्द पर हाथ रखकर सम्राट्ने कहा—"राष्ट्रसंघका कोई सदस्य इस हथियारका प्रयोग नहीं कर सकता।"

स्वार्थी साम्राज्योंकी चालभरी चितवनें समर्थनकी संकेतमयी मुद्रामें चमक उठीं। अबिसीनियाका भोला सम्राट् अभिमानसे भर गया। यहीं उसकी भूल थी और अबिसीनियाके भावी पराजयकी आधार-शिला इसी भूलमें निहित थी। वह नहीं जानता था कि राजनीतिकी दुनियामें सौहार्द्र और शत्रुता निरर्थक शब्द हैं और कानून रबड़की तरह शक्तिशालीकी ओर ही खिंचते हैं।

राष्ट्रसंघकी नियमावली बहुत दिनों ज़िन्दा रही, पर गैसकी गर्वीली फुहारें फेंकनेवाला इटली विजयोत्सव मनाता रहा और नियमोंके नियन्त्रण-का नारा बुलन्द करनेवाला अबिसीनिया गुलामीकी नई चुभनेवाली बेड़ियोंमें बँध गया। नियम नियमोंके लिए हैं, व्यावहारिकताकी वस्तु है शक्ति! इसे वह भूल गया था और भूलकी यही ह्वेल मछली संतापके सागरमें तैरनेवाली उसकी स्वतन्त्रताको निगल गई!

दूसरे महायुद्धके फलस्वरूप अबीसीनियाकी ये बेड़ियाँ कट गईं और वह फिरसे स्वतन्त्रताका उपभोग करने लगा, पर यह १९३६ से १९४६ तक की कहानी है। इसी इटली और अबिसीनियाके इतिहासमें १९०४ का भी एक पृष्ठ है, जब अबिसीनियाके नंगे पैर लड़नेवाले योद्धाओंने इटलीके बौखलाये सिपाहियोंको पीटकर अपनी सीमासे बाहर भगा दिया था, जैसे शहरके कुत्ते मोह-मायामें भटककर शहरमें आये हुए जङ्गली गीदड़को उसके कान और दुम नोचकर लौटा देते हैं।

तभी की एक बात है।

युद्ध दो दिनसे बन्द था। अबिसीनियाके सिपाही एक शहरमें डेरा

डाले विश्राम कर रहे थे। सरदार अपने खेमेमें बैठा कुछ सोच रहा था। गुप्तचरने आकर उसे सूचना दी—"इटलीकी फौज अचानक आक्रमणकी भावनासे इधर ही बढ़ी चली आ रही है।" आगे बढ़नेका अवसर न था, इसी स्थान पर लड़नेका अर्थ था, शहरकी बर्बादी। सरदारने कुछ क्षण सोचा। उसका सधा हुआ हाथ उसके कुलिश-कठोर कन्धे पर झूलनेवाली त्रिशूल पर जा पड़ा। शहरका सारा वातावरण एक मर्मस्पर्शी आवाज़से गूँज उठा। शहर खाली कर देने की आज्ञा हुई। वे वाजिदअली शाहके वंशज न थे कि क़िला टूटने पर भी भागनेके लिए ज़रीकी जूतियाँ पहनानेको मुसकराती, इठलाती बाँदी की ज़रूरत पड़ती। कुछ ही घड़ियोंमें शहर सूना हो गया। सरदार अपने खेमेके बाहर खड़ा था और उसके पास खड़ी थी उसकी लड़की १५ सालकी सुकुमारी, जैसे चित्रकारसे चित्रित हृदयाका अजेय स्मरण। सरदारने भी चलनेके लिए क़दम उठाया।

"मैं नहीं भागूँगी पिताजी!"

सरदारने चौंककर देखा, उसकी बेटी लाइना तनी खड़ी है, जैसे मतवाला गजेन्द्र भवभव कर बढ़ी आती मेल ट्रेनसे टक्कर लेनेको लाइन पर अड़कर खड़ा हो गया हो! बापका वात्सल्य उमड़ आया। स्नेहकी बूँदोंसे उसने उत्सर्गकी उग्रताको शान्त करनेका प्रयत्न किया, पर लाइना न झुकी—उसके विचारोंकी आकाशचुम्बी पैनी नोक पर पिताके उपदेशका पानी न ठहरा। देरका समय न था। सरदारने लाइनाके सिर पर हाथ रखा—"बेटी! मेरे देशकी इज्ज़त तेरे हाथ है। दुश्मनोंको अगर हमारा भेद मिल गया, तो आज अबिसीनियाके मस्तक पर पराजयकी कालिमा पुत जायगी।" लाइना ज़रा और तन गई। यह अटल हिमालयका मूक प्रतिवाद था। सरदार चला गया।

लाइनाने घरसे निकालकर अबिसीनियाका एक राष्ट्रीय झंडा अपने मकान पर लगा दिया और वहीं बैठकर कुछ सोचने लगी। थोड़ी

देरमें इटलीके सिपाहियोंकी हुंकारसे सारा शहर गूँज उठा। वे उत्तेजित थे, पर उस राक्षसी उत्तेजनाके उपयोगका कहीं अवसर ही वहाँ न था।

झण्डेकी फहरानने उनके कमानका ध्यान अपनी ओर खेंचा, तो वह कुछ चुने हुए सिपाहियोंके साथ उधर बढ़ गया। अपने झण्डेकी बल्लीसे कमर लगाये वहाँ लाइना खड़ी थी। शासनकी टोनमें कमानने कहा—"तुम कौन ?"

"अबिसीनियाकी एक बालिका।" लाइनाने धीमे स्वरमें कहा।

"ये सब लोग कहाँ जा छुपे हैं बेटी ?" नम्रतासे कमानने पूछा।

"यह बतानेकी बात नहीं है कमान !" गम्भीरतासे लड़कीने कहा।

"यह बात तो तुझे बतानी ही पड़ेगी लड़की।" कमान कड़ा हो उठा।

यह आनेवाली आपत्तियोंकी पूर्व-सूचना थी। लाइनाके होठोंपर खेल गई मुसकानकी एक हल्की-सी रेखा। यह कमानके चैलेंजकी स्वीकृति थी।

"हाँ तो, बताती है या नहीं शैतान लड़की ?" सेनापतिके स्वरमें कमानने कहा!

"अपने देशकी आजादीके लिए अगर मर मिटना शैतानियत है कमान, तो फिर बल और वैभवके दम्भ भरे दर्पमें झूमकर किसी ग़रीबके प्राणोंको रौंदने निकल पड़ना ही क्या देवत्व है ?"

लाइनाने शान्त स्वरमें कहा। कमानकी मानवता सिहर उठी। उसने लाइनाकी ओर प्यारकी आँखोंसे एकबार देखा, पर शीघ्र ही उसका फौजी दम्भ उमड़ पड़ा। उसकी आँखें जल उठीं, होठ फड़के, मुट्ठियाँ बँध गईं और उसका दाहिना बूट लाइनाके घुटनोंपर जा पड़ा। लाइनाका सिर झण्डेकी बल्लीसे टकरा गया।

"अबिसीनियाके सरदारोंकी लड़कियाँ कष्टोंसे खेलना पत्थरके प्रसूति-घरमें ही सीख लेती हैं कमान !" लाइनाने उसी ठण्डे स्वरमें कहा।

"तो ले, खेल कष्टोंसे !" कमान आगे बढ़ा और उसने अपने दोनों

दानवी बूट लाइनाके छोटे-छोटे पैरोंपर रखकर उन्हें कुचल दिया, पर लाइना न हिली, न चीखी !

"मेरे हृदयमें जो रहस्य छिपा है, उसे तुम सारे शरीरको इसी तरह कुचलकर भी नहीं पा सकते !" लाइनाने दृढ़तासे कहा। कमानका बल हार कर झल्ला उठा। उसने लाइनाका सिर पकड़ा और उसे पूरे ज़ोरके साथ बल्लीसे टकरा दिया। लाइनाके पैर कमानके बूटोंके नीचे कुचलकर खूनसे लथपथ थे। लाइनाके घुटनोंका खून टपककर कमानके काले बूटोंको लाल कर रहा था; जैसे मानवताकी अपील दानवताके काले क़दमोंमें आ पड़ी हो और लाइनाका सिर बार-बार झण्डेकी बल्ली पर पटका जा रहा था, पर लाइना शान्त थी। बल्लीमें उसका सिर टुक-से लगता, कमान आसुरी अहंकार आँखोंमें भरकर उसकी तरफ़ देखता—बोल अब तो बतायगी वह बात ? और लाइना हँस पड़ती। फिरसे उसका सिर बल्लीमे टकरा दिया जाता।

लाइनाकी वाणी न खुली। कमानका अभिमान न पसीजा। वह उसे घसीटकर शहरके उस चौराहेपर ले आया, जहाँ उसके दूसरे साथी इकट्ठा थे। इतने दुश्मनोंके बीच लाइना इकली थी, पर जिसके साथ आत्मा का बल है, वह डरेगा क्यों और उसे डरायेगा कौन ? सिंहनी-सी निर्भीक वह लाइना खड़ी थी और कमान उसके उरःस्थलसे भेद निकालनेका साधन खोज रहा था। कमानकी बेचैनीपर वह हँस पड़ी। कमान भुनकर छछून्दर हो गया।

लाइना घुटनोंतक ज़मीनमें गाड़ दी गई और उसके सुन्दर, पवित्र छोटे-छोटे स्तन काट डाले गये, कमानने गरजकर कहा—"अब तो बतायगी बदमाश लड़की ?"

"किसी विलासी युवककी वासनाका शिकार होनेवाले स्तनोंको मातृ-भूमिके पवित्र यज्ञमें आहुति कर देनेके लिए मैं तेरी कृतज्ञ हूँ कमान !" लाइनाने कहा।

कमानका सैनिक-दर्प दलित हो हुंकार उठा। हण्टरोंसे लाइनाकी खाल खिंचने लगी। ओह, वह दृश्य! घुटनेतक जमीनमें गड़ी हुई लाइना, अर्धनग्न और रक्त होन लाइना, हण्टरोंसे पिटती हुई लाइना। सैनिकोंकी उद्दण्ड भीड़, लाइनाका जहाँ कोई नहीं और दर्पका वह दानव कमान, लाइना विचलित हो उठी। उसकी देह जर्जर हो काँप गई, मन बेकाबू हो चला।

कमानकी तेज आँखें इसे भाँप गईं। उसने कहा—"तुम यह कष्ट क्यों पा रही हो लाइना? बताओ, वे कहाँ जा छुपे हैं?"

कष्टोंसे काँपती जीभ रहस्यका उद्घाटन करने चली। लाइनाका देश-भक्त हृदय विकल हो उठा। उसने देखा, कमबख्त जीभ घरका चिराग़ होकर घर जलाने जा रही है। पिताकी वाणी उसके कानोंमें गूँज उठी—"मेरे देशकी इज्जत तेरे हाथ है लाइना।" उसके शरीरमें बिजली-सी कौंध गई। उसका दाया हाथ, उसके कुर्तेकी जेबमें जा पड़ा। एक तेज चाकू अब उसके हाथ में था। कमान जबतक चौंके, लाइनाने उसे फुर्तीसे खोला और अपनी पूरी जीभ काटकर कमानके सामने फेंक दी।

हण्टर लिये कमान सामने खड़ा था। रक्तरंजित चाकू लाइनाके हाथ में था और उसके मुँहसे खूनकी धार बह रही थी, पर अब वह हँस रही थी। उसके हास्यमें 'खिल-खिल' का मधुर स्वर नहीं था 'ओ···ओ···ओ' की वीर गर्जना थी। कमान काँप गया। गड्ढेसे निकालकर लाइना मरनेके लिए सिपाहियोंके बूटोंमें फेंक दी गई। लाइनाका शरीर कुचल दिया गया, पर विरोधी सेनाके मनपर उसके देशको वीरताकी एक ऐसी छाप पड़ गई, जो युद्ध-शास्त्रकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी।

लाइना आज नहीं है, पर अबिसीनियाके उस चौराहेपर खड़ा उसका ऊँचा स्टैचू आज भी लाइनाके उत्सर्गकी प्रसादी विश्वके युवकोंको बाँट रहा है। उसकी इस प्रसादीमें कमानके काले कारनामोंकी याद है, लाइना

की दृढ़ताका वरदान है, कर्तव्यकी भावना है, उत्सर्गकी उज्ज्वलता है, सजीवताका संदेश है, लक्ष्यके लिए–बातके लिए, आनके लिए, मर मिटनेकी प्रेरणा है और इन सबसे बढ़कर युवकोंके लिए आज़ादीकी क़ीमत का ऐलान है! लाइना मरकर भी अमर है और उसका दान विश्वके जीवन-कोषकी बहुमूल्य निधि है।

लाल अंगारोंकी उस मुसकानमें !

[१]

"मैं आपकी शरण आया हूँ महाराज ।"

रणथम्भोरके राजा हमीर अपने दरबारमें बैठे अपना राजकाज देख रहे थे कि किसीने पुकारा—"मैं आपकी शरण आया हूँ महाराज !"

हमीरने आँखें ऊपर उठाईं, तो एक बहादुर मुसलमान उसके सामने । सिर उसका झुका, गला उसका व्यथासे भर्राया और मुद्रा उसकी पीड़ित !

"कौन हो तुम ?" हमीरने पूछा ।

"महाराज, मैं दुखिया हूँ, मेरे प्राण संकटमें हैं, आपकी शरण आया हूँ !" आगन्तुकने कहा ।

आगन्तुककी पूरी कहानी यों—"मेरा नाम माहमशाह, काम सिपाहीगिरी । बादशाह अलाउद्दीन खिल्जीका खादिम । एक मामूली बात पर बादशाह नाराज़ और मेरे लिए फाँसीका हुक्म । वे घड़ियाँ नजदीक कि जब फाँसीका फन्दा दम घोटकर मेरी लाशको चील और कुत्तोंके लिए एक स्वादिष्ट नाश्तेकी तरह फेंक दे कि मैं जेलसे फरार और अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए यों आपकी शरणमें हाजिर—मेरी रक्षा कीजिये महाराज !"

हमीरने गौरसे माहमशाहको देखा । माहम बहुत घबराया हुआ था । "दिल्ली और रणथम्भोरके बीचमें तो राजपूतोंके कई राज्य हैं, तुम उनमें क्यों नहीं गये माहम ?" हमीरने गम्भीरतासे पूछा ।

और भी दीन होकर माहमने कहा—"महाराज, मैं सबके दरवाजे गया, सबने मुझे सहानुभूति दी, पर कोई शरण न दे सका; क्योंकि मैं दिल्लीके बादशाह अलाउद्दीन खिलजीका भगोड़ा हूँ और मुझे शरण देकर कोई उन्हें नाराज़ करना नहीं चाहता ।"

हमीरने अपने सलाहकारोंकी ओर देखा और उन्हें अनुत्साहित पाया। उनकी राय थी—"महाराज, माहमशाहकी तलवार आज आपके द्वार शरणार्थी है, पर कल तक वह हमारे ख़ूनकी प्यासी थी। हम उसे अपनी छायामें लें, दिल्लीके तख़्तकी लपलपाती क्रोधाग्निको न्यौता क्यों दें?"

"यह दिल्लीके तख़्तकी लपलपाती क्रोधाग्निको न्यौता देनेका सवाल नहीं है सरदारो, यह कर्तव्यका प्रश्न है, आनका प्रश्न है। जब माहम इस द्वारसे निराश लौटेगा, तो स्वर्गमें हमारे पूर्वज क्या सोचेंगे? क्या उस दिन उन्हें स्वर्गके सुख-साजोंमें काँटोंकी चुभनका अनुभव न होगा?" हमीरने आवेगमें पूछा।

धीमे हो सरदारोंने कहा—"महाराज, आपकी बात परम पवित्र है, पर कर्तव्यकी भी तो एक सीमा है!"

"कर्तव्यकी सीमा?" भड़ककर हमीरने पूछा—"कर्तव्यकी सीमा है कर्तव्य और कर्तव्यकी सीमा है कर्तव्यका पालन। कर्तव्यके पालनमें सुख मिलेगा या दुःख, जय होगी या पराजय, यह दूकानदारीकी वृत्ति राजपूतोंको शोभा नहीं देती। माहम शरणार्थी है, शरणार्थीकी रक्षा राजपूतका कर्तव्य है। यह कर्तव्य हमें पूरा करना है, फिर इससे दिल्लीका बादशाह नाराज़ हो या दुनियाका बादशाह!"

सामन्त-सरदार अब महाराजकी भावधारामें अवगाहन कर, बुद्धिसे दूर भावनाके क्षेत्रमें पहुँच गये थे। उनके मुँहसे निकला—"धन्य महाराज!"

हमीरने अपने सिंहासनसे उठ माहमको थपथपाया और छातीसे लगा लिया। हमीर इस समय आसमान थे, तो माहम धरती। दोनोंका यह मिलन देख, रणथम्भोरके सूखे-ठूँठे वृक्षोंमें नई कोपलें फूट आईं।

हमीरने कहा—"माहमशाह, रणथम्भोर अब तुम्हारा ही घर है। आरामसे यहाँ रहो और विश्वास रक्खो कि अब किसीकी हिम्मत नहीं कि तुम्हारी तरफ़ तिरछी आँखोंसे देखे। कोई कष्ट हो, तो हमें कहना—जाओ।"

[२]

कानों-कान यह उड़ती ख़बर दिल्लीके बादशाह अलाउद्दीन खिलजी तक पहुँची, तो वह तमतमा उठा—हमीरकी यह हिमाकत कि मेरे चोरको बगलमें ले।

"क्या तुम नहीं जानते हमीर, जो तुमने माहमको यों अपनी छत दी? ख़ैर, मैं भूलोंको माफ़ करना जानता हूँ। कोई बात नहीं—माहमको अपनी देख-रेखमें मेरे सुपुर्द करो और अपने क़सूरकी माफी माँगो!" अलाउद्दीनका यह सन्देशा हमीरके पास पहुँचा, तो वह मुसकराया और उसने बादशाहको लिखा—"मैंने माहमको शरण दी है, कोई नौकर नहीं रक्खा और अपना सर्वस्व लुटाकर भी शरणागतोंकी रक्षा करना मेरी जाति का संस्कार है। सपनेमें भी उम्मीद न रखिये कि माहमको मैं आपके दरवाजे लाऊँगा और जो मुनासिब समझें सो कीजिये!"

जवाब क्या था, एक पलीता था, जिसने खिलजीके बारूदमें आग लगा दी और उसने कुछ दिन बाद ही अपनी फौजोंके साथ रणथम्भोरका क़िला घेर लिया।

"लड़ाई-झगड़ेसे क्या फ़ायदा हमीर, ला माहमको मुझे सौंप दे!" खिलजीका यह आखिरी सन्देशा था।

"लड़ाईसे मैं नहीं डरता और जीवनकी आख़िरी घड़ीतक माहमकी रक्षा करूँगा!" हमीरका यह आखिरी उत्तर था।

दूसरे दिन रणदुन्दुभि बज उठी। ऊँची पहाड़ी पर बना रण-थम्भोरका क़िला और उसके चारों ओर फैली शाही फौजें। घमासान लड़ाई, जिसमें एक तरफ़ शक्तिका दर्प, तो दूसरी तरफ़ ग़ैरतकी पन्न। एक तरफ़ अपने बादशाहके लिए लड़नेवाले फौजी, तो दूसरी तरफ़ अपनी बातके लिए मर मिटनेवाले सिपाही। एक तरफ़ भरपूर साधन, तो दूसरी ओर भरपूर आन। लड़ाई क्या—एक बातकी बाजी और यह बाजी,

जिसका निशाना एक आदमीके प्राण और इस एक प्राणके लिए हज़ारों प्राण, सरसोंके एक दानेकी तरह, हथेली पर।

दोनों तरफ़के हज़ारों योद्धा काम आये। बादशाहकी ताक़त जितनी छीजती, दिल्ली उसे पूरा कर देती, पर हमीरकी शक्ति-धाराकी जो लहर बह जाती, बह जाती—वह फिर न लौटती। हर टूटती तलवार सौ को निन्नानवे करती और हर गिरता सिपाही हज़ारको नौ सौ निन्नानवे—व्ययके रास्ते खुले हुए थे, तो आयके बंद। कारूँका खजाना और कुबेरका कोष भी यों कब तक टिक पाता; रणथम्भोरकी सैन्य-शक्ति और खाद्य-सामग्री कम पड़ चली !

हमीर उस दिन कुछ सोच रहे थे कि माहमशाह आकर खड़े हो गये। "कहिये शाह साहब, क्या बात है ?" हमीरने उनसे कहा।

"अर्ज यह है कि मेरी वजहसे आपका बहुत नुक़सान हो चुका। मैं आपकी मुसीबतोंको और ज्यादा बढ़ाना नहीं चाहता और बादशाहके पास जानेकी इजाज़त लेने आपकी खिदमतमें हाज़िर हुआ हूँ।" माहमशाहने बहुत ही नम्र स्वरमें कहा।

हमीरने पूरी गम्भीरतासे कहा—"शाह साहब, यह लड़कोंका खेल नहीं, युद्ध है। फिर क्या आप नहीं जानते कि मैं राजपूत हूँ। जो वचन आपको दे चुका हूँ, उसे मरते दम तक निबाहूँगा। इस लड़ाईमें आपकी बहादुरीके चमत्कार देखकर मैं बहुत खुश हूँ। हार-जीत तो बहादुरकी क़िस्मतके दो सितारे हैं, इनकी फ़िक्र न कीजिये !"

लड़ाई चलती रही, सामान और सिपाही घटते रहे। एक दिन भण्डारीने खबर दी—"आज खानेका सामान समाप्त है।"

रणथम्भोरके क़िलेमें एक सभा हुई कि अब क्या हो ? माहमशाहने बहुत खुशामदें कीं, वह बहुत गिड़गिड़ाया कि उसे बादशाहको सौंपकर सुलह कर ली जाय, पर उसके प्रस्तावका समर्थक वहाँ कोई दूसरा न था। सचाई यह है कि हमीर और उसके साथियोंके सामने यह प्रश्न ही न था

कि हम कैसे बचें ? उनकी विचार-दिशा तो केवल यह थी कि अब हम कैसे लड़ें ? भावुकताका ऐसा ज्वार विश्वके इतिहासमें शायद ही कहीं और आया हो !

फैसला हुआ कि कल क़िलेका द्वार खोल दिया जाय और जमकर युद्ध हो—इस युद्धका स्पष्ट अर्थ था आत्माहुति, सर्वस्व समर्पण। जीतकी कामना सिपाहीको उत्साह देती है, तो विजयकी आशा उसे बल, पर ये कामना और आशाके झूलेपर इधरसे उधर और उधर से इधर झूलनेवाले सिपाही न थे—इन्हें झूलना नहीं झूमना था, इन्हें कुछ बूझना नहीं, बस जूझना था। क्या सचमुच ये गीतामें वर्णित निष्काम कर्मयोगके सर्वोत्तम जीवित स्टैचू न थे ?

और क़िलेमें यौवनकी किलकारियाँ भरतीं, इन स्त्रियोंका क्या होगा ? उन्होंने फैसला किया कि हम क़िलेका द्वार खुलनेसे पहले जौहर करेंगी !

अब वे सब निश्चिन्त थे; जैसे उन्हें जो करना था, कर चुके थे ! रातको ये सब सो रहे थे, सुबह जल्दी उठनेके लिए और सुबह इन्हें जल्दी उठना था—हमेशाको सोनेके लिए ! ऐसी जीवन्त नींद रातके सितारोंने फिर नहीं देखी, यह वे हमेशा आपसमें अब भी कहा करते हैं।

पौ फूटी, तो सब जागे और पुरुषोंने नित्यकर्मोंसे निपट, सबसे पहले एक विशाल चिता सजाई। स्त्रियोंने पूजन किया, कीर्तन किया। वे अपने-अपने पतियोंसे मिलीं। पुरुषोंने उन्हें प्यारसे थपथपाया, उन्होंने उनके पैर छुए। ओह, आज वे अपने सर्वश्रेष्ठ शृंगारमें थीं, जैसे जीवनकी सर्वोत्तम यात्रा पर आज उन्हें जाना था और यों वे अपनी दर्पदीप्त गतिसे चिताकी ओर चलीं—जैसे स्वयंवरके बाद दुलहनें अपने रथकी ओर बढ़ रहीं हों !

यह लो, वे चढ़ गईं चितापर और बैठ गईं पास-पास अपनेको सँभाले-सवाँरे। कुछने सुना, कुछने कहा—"अच्छा अब स्वर्गमें मिलेंगे।" और चिताकी लपटोंमें वे घिर गईं।

क्या आत्माकी अमरताका ऐसा विश्वास और मृत्युका इतना मनोरम वरण इतिहासके किसी और पृष्ठमें भी इतने प्रदीप्त रूपमें लिखा गया है ?

क़िलेका द्वार खोल दिया गया और रणथम्भोरके योद्धा रणमें कूद पड़े। रण था यह, दिल्लीकी फौजोंके लिए, रणथम्भोरवालोंके लिए तो यह आत्मदानका यज्ञ ही था। वे यज्ञकी श्रद्धासे युद्धमें उतरे। माहम और हमीर साथ-साथ आगे बढ़े और काल बनकर बरसे। दूसरे सिपाही भी खूनकी आखिरी बूँद तक लड़े !

क्या इन योद्धाओंकी रक्त-पिपासा समाधिस्थ योगियोंकी तरह आत्म-लीन न थी ! ओह, रणथम्भोरकी ये शहादतें, ये बलिदान, ये कुर्बानियाँ; जो वीरताके इतिहासमें अपना जोड़ नहीं रखतीं और आज सदियोंके बाद भी जिनसे अगरबत्तियों-सी जीवनके सौरभकी भीनी एवं प्रेरक गन्ध आ रही है।

दुनियाकी अधूरी भाषामें आजका विजेता अलाउद्दीन खिलजी अपने जयकार सुनता रणथम्भोरके क़िलेमें घुसा, तो वह उसकी आत्माके चारों ओर गूँजती एक हँसीसे हकबक हो गया !

यह हँसी किसकी थी ? वहाँ यह हँसनेवाला कौन था ?

यह हँसी उस दहकती चिताके लाल अंगारोंकी थी, जो कह रही थी--"मूर्ख अलाउद्दीन; तू रणथम्भोरकी ईंटोंको ही जीत सका, उसकी इज्जत, उसकी ग़ैरत और उसकी वीरता सदा अजेय है !"

और रणथम्भोरके खण्डहर आज भी, उस अजेय वीरताके गान अंधेरी रातोंमें आकाशके तारोंको सुनाया करते हैं !

जलती चिताकी उस गोदमें

इधर देवता, उधर राक्षस, एक तरफ़ शिव, दूसरी तरफ़ शैतान और बीचमें मनुष्य। मनुष्य एक लचकदार चीज, जो बदल सकती है, इसमें भी और उसमें भी। आजका इन्सान अपने बायें हाथ थोड़ा बढ़ जाए, तो कल राक्षस और दायें हाथ बढ़ जाए, तो देवता—प्रकृति और परमात्मा के बीचकी एक अजब कड़ी यह मनुष्य !

राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, ईसा और मुहम्मद, तुलसी और नानक, रामकृष्ण और गांधी, विवेकानन्द और रामतीर्थ, रैदास और मीरा; विश्वके सब महापुरुषों और सन्तोंने अपने जीवनमें जो चमत्कारी कार्य किये, उनका बाहरी रूप, उनके समयकी परिस्थितियोंके अनुसार कुछ भी क्यों न हो, उनके उपदेशोंकी भाषा संस्कृत हो या अरबी, पाली हो या प्राकृत, हिन्दी हो या गुरुमुखी, उसका उद्देश्य एक है—मनुष्य और राक्षसके बीच दीवार खड़ी करना और मनुष्यको उसके दायें हाथ—देवत्व की ओर बढ़नेको बढ़ावा देना।

इस दीवार और बढ़ावेके सम्मिलित रूपका ही नाम धर्म है। मनुष्य ने आज गाँव बसा लिये, शहर बना लिये, उसने अपनी एक नई सभ्यता की रचना कर डाली, ठीक है, पर अपने आरम्भमें वह जंगली था और वहीं एक दिन उसने अपनी नंगी देहको पत्तों और छालोंसे ढककर और फूलों एवं बेलकी लताओंसे सजाकर इस सभ्यताकी नींव रक्खी थी।

आज भी उसके भीतर, भीतरके भी भीतर, वह वृत्ति शेष है और वह इन दीवारोंको फूल-पत्तियों—बाहरी आचार-विचारोंसे सजाने लगता है। यह सजावट उसकी आँखोंमें प्यारकी, स्नेहकी, ममताकी एक रेखा खींचती है और यही रेखा आगे बढ़कर पूजाकी भावनामें बदल जाती है और यों

मनुष्य उन दीवारोंके उद्देश्यको भूलकर उन्हें पूजने लगता है। पूजने लगता है कि उन्हींमें लीन रहता है और अपने दायें हाथ—देवत्वकी ओर बढ़नेसे रुक जाता है।

यह अज्ञानका रूप है और अज्ञानके अधिष्ठाता हैं राक्षस। वे भूल-भुलैया दे, इस दीवारमें आ बसते हैं और इस तरह मनुष्य उनके माया-जालसे निकलते-निकलते फिर उसीमें रम जाता है। प्रकृतिका अद्भुत विधान है कि नये सुधारक आते हैं और उसे फिर सावधान करते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दीके मध्यमें ईरानमें भ्रातृत्व और समानताका संस्थापक इस्लाम ही राज्य-धर्म था, पर सामाजिक जीवनकी एक अजीब दशा थी। राजा और उसके सामन्त जनताका शोषण करते, उसे चूसते और इस तरह लाखों इन्सानोंको इन्सानियतका कंकाल बनाकर थोड़े-से बड़े आदमियोंके घरमें रोशनी होती और खुशबूदार पुलाव पकते।

स्त्रियोंकी—मनुष्यको जन्म देकर पालनेवाली मातृजाति की—दशा ग़ुलामों से भी बदतर थी। समाजमें, परिवारमें, जीवनमें, न उसका कोई अधिकार था, न माँग। आम जनताके लोग भूखे थे, कंगाल थे, पर उनकी तरफ़ किसी का ध्यान नहीं था और सचाई तो यह है कि उन्हें स्वयं भी अपनी तरफ़ ध्यान देनेका अधिकार नहीं था। शिक्षापर कुछ ऊँचे खानदानोंका ही अधिकार था—स्त्रियों और ग़रीबोंके लिए पढ़ना असम्भव था—असम्भव क्या; एक गुनाह! यों सारे समाजपर जड़ता छाई हुई थी और इस क्रूर जड़ताको ही धर्म कहा जा रहा था।

समयने एक सुधारकको जन्म दिया। उनका नाम था—मुहम्मद अली बाब! बाब का अर्थ है द्वार—वे कहते, मैं एक नये प्रकाशका द्वार हूँ। यह नया प्रकाश था—सब धर्मोंकी मूलमें एकता, स्त्री-पुरुषकी समानता, शिक्षा और सम्पत्तिपर नर-नारीका समान अधिकार!

धर्मान्धता बुराई है, पर जब शासक ही धर्मरक्षाका ठेकेदार हो, तो यह बुराई विष-बुझी बरछीसे भी अधिक भयानक हो जाती है। ईरानका

शाह बाबको क्यों सहता ? धर्मान्ध राजसत्ताका नारा है—'अपनी बातसे हटो या धरतीसे !' सुधारकके भाग्यका भरोसा है जेल और वैभव है फाँसीका तख्ता। बाबने जाने कितनी जेलोंका पानी पिया और अन्तमें शहर तुबरेज़में उसे फाँसी दे दी गई। उसे अपनी बात समाजसे कहने को कुल सात साल मिले, पर आज संसारमें उनके नामपर सिर झुकाने वालोंकी तादाद २० लाखसे ऊपर है।

इन्हीं सात वर्षोंके बीच एक दिन !

ईरानकी शाही मस्जिद, जुमेकी नमाज़, आँगनमें एक तरफ़ सजे-धजे मौलवी और रईसज़ादे, दूसरी तरफ़ ग़रीब नागरिक, फटे हाल और दबे बुचे-से; सबसे आगे इमाम और सबका मुँह मस्जिदकी तरफ़—सब सिज़देमें।

सिज़देसे सब उठे, तो हज़रत इमामके पास एक काला बुरका; ज़मीन पर पड़ा बुरकेका कपड़ा या कपड़ेका खाली बुरका नहीं, ढुकेसे घुटनों और उभरे-से कन्धों वाले जीवित मनुष्यको अपनेमें लिये एक काला बुरका !

सबकी आँखें उधर, फटीकी फटी आँखें और सब विस्मय-विमुग्ध ! तभी उस बुरकेमें फूट पड़े बुलबुलसे बोल—मीठे, पर पैने; जैसे शहदसे सनी कटार !

बुरकेके बोल कुछ इस तरह थे—"आप लोग अभी नमाज़ पढ़ रहे थे, पर संसार भरमें फैले इन्सान और इन्सानके बीच एकताकी, भाई-चारेकी शपथ ही तो नमाज़ है ! आपने खुदाके सामने सिजदे किये, पर खुदा कहाँ है ? वह किताबोंमें नहीं है, किताबें उसे पानेकी राह बताती हैं, पर उनमें खुदा नहीं है। खुदा हमारे भीतर है, इसलिए संसार के मनुष्योंकी सेवा ही खुदाको पानेकी सच्ची राह है। आज धर्म-स्थानोंपर स्वार्थियोंका कब्जा है, यहाँ हम शैतानको पा सकते हैं, खुदाको नहीं !

मेरी बात झूठ है, तो मैं पूछती हूँ कि खुदाके इस पवित्र राज्यमें ये

एक तरफ़ ग़रीब क्यों हैं ? ये एक तरफ़ अमीर क्यों हैं ? ये एक तरफ़ चूसने वाले क्यों हैं ? ये एक तरफ़ चुसनेवाले क्यों हैं ?

क्या कहते हो तुम कि औरतोंमें आत्मा नहीं होती ? और क्या कहते हो तुम कि औरतें सिर्फ़ भोगविलासकी चीज़ें हैं ? ग़लत, धोखा, बेईमानी और सरासर झूठ; खुदाकी निगाहोंमें, मज़हबके सायेमें औरत और मर्द बराबर हैं—उनमें कोई फ़र्क नहीं, उनके हक़में कोई फ़र्क नहीं !"

बोल बन्द हुए, तो बुरका हिला और दो कमलनाल-सी कोमल भुजाओं ने अपनेको ढके उस बुरकेको फाड़कर तार-तार कर दिया। अब सबके सामने एक जवान औरत; जिसका रंग चांदनी-सा और रूप गुलाब-सा, जिसके बोल बुलबुल-से, स्थिरता पहाड़-सी और गरमी ज्वालामुखीकी तरह, पत्थरकी अहिल्या-से सब जहाँ-के-तहाँ खड़े रह गये; सन्न भी और सन्नाटे में भी। सबको ऐसा लगा कि ईरानमें एक भयंकर भूकम्प उमड़ आया है !

यह तरुणी ताहिरा थी। अपने बूढ़े बापकी इकलौती बेटी, अपने स्नेही पतिकी पत्नी, अपने गुरुकी शिष्या, जिसने नये प्रकाशसे उसे घरके घुटे धुएँसे निकालकर क्रान्तिके प्रचण्ड चौराहे पर खड़ा कर दिया था।

मस्जिदकी यह घटना एक आंधीकी तरह नये-नये रूपोंमें ईरानके घर-घर फैल गई। सबके सामने एक ही प्रश्न था—ओह, अब क्या होगा ? यह कोई मामूली बात न थी—एक जवान औरत, खुले मुँह, मस्जिदके बीच और नमाज़के वक्त !

जिस घरमें ताहिरा लाडों पली थी, वहीं उसपर पहली चोट पड़ी—उसे लोहेकी मोटी जंजीरोंमें बाँधकर, एक अँधेरे कमरेमें बंद कर दिया गया। उसकी कोमल देहपर कोड़े पड़े, वह भूखी रही, उसे बदमाश बताया गया, पर वह अपनी बातसे न हटी, न हटी !

एक दिन इसी रूपमें उसका पति उससे मिला। वह उसे देखकर रो पड़ा, तो ताहिराने कहा—"रोते क्यों हो ? यह सब तो मेरा इम्तहान है। घबराओ मत, मैं इसमें पास हूँगी।"

शाहने एक दिन उसे अपने दरबारमें बुलाया। वह उसके व्यक्तित्व का प्रशंसक था। मीठे-मीठे उसने कहा—"तू पागल न बन ताहिरा, अपनी यह हठ छोड़ दे।" जवाब सुननेको दरबारके लोगोंकी आँखें फैल गईं, पर उनके कानोंमें पड़ा—"यह पागलपन नहीं है शाह! यह तो एक क्रान्ति है। मैं रहूँ या मिट जाऊँ, गरीबी और अमीरी, औरत और मर्द, अत्याचार और दीनताका यह संघर्ष उस दिनतक नहीं रुकेगा, जबतक इन्सान और इन्सानके बीच इस संसारमें समानता क़ायम न हो जाय!"

लोग ग़ुस्सेसे भमभसा उठे। फिर भी संयमसे शाहने कहा—"जानती है इस ज़िदका नतीजा?"

"कोड़े, क़ैद और फाँसी; खूब जानती हूँ शाह!" ताहिराने मुसकराकर कहा, तो सबके मनका क्रोध कुछ और पैना हो गया!

एक दिन शहरमें ताहिराका जुलूस निकाला गया और सबसे कहा गया कि वे जुलूसको देखें। संसारके इतिहासका यह एक अजीब जुलूस था—सुनयना, सुवयना, सुमुखी, सुकण्ठा, सुकुमारी ताहिरा एक खच्चरकी पूँछसे पैरोंके द्वारा बँधी थी और उसका धड़ सड़क पर घिसटता जा रहा था। कुछ लोग तड़फ रहे थे, मचमचा रहे थे, पर बोल न सकते थे और कुछ लोग खुश थे, तालियाँ बजा रहे थे!

शाह भी यह जुलूस देखने आया और देखकर रो पड़ा। ताहिराने, लहूलुहान ताहिराने उससे कहा—रोते हो शाह, क्यों?" और वह हँस पड़ी—ओह यह हँसी, प्रलयकी बिजलियोंसे भी अधिक बेधक। शाह जल उठा—पता नहीं क्रोधसे या अपनी बेबसी से। उसने हुक्म दिया—"झोंक दो इसे आगमें।"

और ताहिरा, जीती जागती ताहिरा चौराहे पर चिता सजाकर जला दी गई। चिताकी लपटोंमेंसे भी लोगोंने उसकी मुसकराहट देखी। यह मुसकराहट ईरानके शाहकी धन-सम्पदा पर एक लानत थी, जिसे चाहती, तो ताहिरा एक ही मुसकराहटमें पा लेती!

"छोड़ दो ताहिराको !" शाहका हुक्म लिये सिपाही दौड़ा आया, पर तब वहाँ ताहिरा नहीं, उसकी जली-झुलसी लाश ही बाक़ी थी। वह उस समय बोल सकती, तो शायद कहती—"मुझे तुम्हारी मेहरबानियोंकी ज़रूरत नहीं, ज्वालाकी ये लपटें मुझे मुबारक़ !"

ग्रीसके उन तूफ़ानी दिनोंमें

शक्ति सेवाका सम्बल है। शक्तिशालीका वास्तविक अर्थ है सेवक। जितनी शक्ति उतनी सेवा। जिसमें शक्ति नहीं, वह सेवा क्या करेगा, पर शक्ति एक पैनी धारकी तलवार है। उसका मुँह सेवाकी ओर ही रहे, तो वह दैवी वरदान है और वह गर्वकी ओर हो जाय, तो अभिशाप बनकर सर्वनाशका ताण्डव करने लगती है।

शक्तिका सदुपयोग सद्भावनाका जनक है और दुरुपयोग असन्तोषका। यह असन्तोष एक निराकार डायनामाइट है, जो शक्तिके पर्वतोंको खील-खीलकर बिखरा देता है। शक्ति, उसका दुरुपयोग, असन्तोषका जन्म और उथल-पुथल; विश्वके सम्पूर्ण विप्लवोंका यही इतिहास है।

ग्रीसमें भी असन्तोषकी यह ज्वाला भीतर ही भीतर बरसोंसे सुलग रही थी। तोप, बम और फौज़ोंका अभिमानी शासक उसे देख ही न पाता— देखकर भी उसके परुष होठों पर खेल जाती उपेक्षाकी मुसकान, पर इतिहास साक्षी है, दर्पसे दीप्त उपेक्षाकी यह मुसकान-रेखा सदा ही विपत्तिकी पूर्व सूचना सिद्ध हुई है।

अवसर आया, असन्तोष भड़क उठा, क्रान्तिकी अंगारमयी लाल लपटें सारे देशमें धू-धूकर जल उठीं। वे १९३५ के तूफ़ानी दिन थे। असन्तोषकी गहराईमें कुछ कमी थी, साधनोंका संगठन कुछ ठीक न हुआ था, इसलिए क्रान्ति उठी, भड़की और विफलताके महासागरमें भावी सफलताकी खोज करने चली गई, पर वह मरकर भी अमर हुई और उसका अस्थिपिंजर मैसेडोनियाके जंगलोंमें पड़ा-पड़ा विश्वकी कायरता और मूर्खता-पूर्ण सन्तोषको वीरता, प्रवृत्ति और आत्म-त्यागका सन्देश देता रहा।

उसकी उम्र अभी २१ साल थी—यौवनकी मस्ती, उसकी दैहिक सुन्दरतामें मिलकर खिल उठी थी और वह चाहती, तो किसी सुन्दर युवाकी अर्धांगिनी बन, ऐश कर सकती थी, पर उसका मन क्रान्तिपथका अनुधावी था, स्वातन्त्र्य-भावना उसने माँके दूधके साथ पी थी और विद्रोह उसे विरासतमें मिला था।

उसका नाम हेलेना मेट्रोपोलेस था और वह विश्व-विख्यात कवि बायरनकी वंशधर थी। उसकी वीर माता सर्वियन रेडक्रासकी ओरसे काम करते हुए बलि हो गई थी और उसका बाप सर्वियनोंकी ओरसे लड़ते हुए शहीद हुआ था। मृत्युकी ममतामयी गोदमें सदाके लिए आँखें मूंदनेसे पहले उन्होंने अपनी प्यारी हेलेनाके नाम पत्रमें लिखा था—"सुख और दुःख तो मनके विकार मात्र हैं। जीवनमें वे आते-जाते ही रहेंगे, पर तुम सदा न्याय और स्वतन्त्रताका आदर्श अपने सामने रखना।"

बहादुर बाप और सेवाव्रती जननीकी इस वीर पुत्रीने पिताके इस आदेशका सदा पालन किया। प्रारम्भसे ही उसकी प्रवृत्ति विद्रोहात्मक थी। १८ वर्षकी वयमें वह तलवारकी धारपर खेलना और खिलाना सीख गई थी और उस क्रान्तिसे पूर्व वह हवाई जहाज़ चलानेकी शिक्षा ले रही थी।

ग्रीसके क्रान्तिदलकी वह प्रमुख सदस्या थी। दलने इसके आकर्षण, वीरता और संगठन-शक्तिसे प्रभावित होकर ही क्रान्तिकारी महिलाओंकी सैनिक टुकड़ीके संगठनका गुरुतर कार्य इसे सौंपा था और राज्यक्रान्तिके आरम्भमें ही इस दलका संचालक पद इस वीरबालाको दिया गया था। इसका खिंचाव गज़बका था। वह किसी होनहार लड़कीको देखती, उससे बातें करती और दूसरे ही दिन दलवाले देखते कि एक नई सदस्याका दीक्षा-संस्कार हो रहा है। भीतरके असन्तोषको भड़का देनेमें इसे कमाल हासिल था और इस कमालका ही यह फल था कि इसकी स्वयंसेविकाओंने

दलके युवकोंको ही चक्करमें नहीं डाला, समर्थ अधिकारियोंको भी स्तब्ध कर दिया था।

हेलेना राज्य-सत्ताकी आँखोंमें काँटा थी। इसकी वीरता, दूरदर्शिता और चकाचौंध मचा देनेवाली स्फुरणाने उन्हें चक्करमें डाल दिया था। उन्होंने उस दिन हेलेनाको जीवित या मृत गिरफ्तार करने पर एक बड़े पुरस्कारकी घोषणा की थी, पर उसने अपने सैनिकोंकी सहायतासे स्टेमा नदीका विख्यात पुल उड़ाकर उसी दिन सरकारी फौजको किंकर्तव्यविमूढ़-सा बना दिया था और देखनेवालोंने देखा, क्रान्तिके सफल होनेकी सम्भावना उस दिन बहुत बढ़ गई थी।

चुलबुलापन और अट्टहास उसकी अपनी चीज़ें थीं। वह एक जाल बिछाती और उसके दुश्मन जब उसमें फँस जाते, तो वह ज़ोरसे हँस पड़ती। चारों ओर उसका यह भयङ्कर अट्टहास गूँज उठता और दुश्मनों पर धूल-सी पड़ जाती। विरोधी फौजका कमाण्डर उससे परेशान था। ऐसी थी उसकी बग़ावत।

समय-समय पर उसने सरकारी फौजसे घमासान लड़ाइयाँ लड़ीं थीं। उस दिन भी ऐसा ही दिन था। वह शाही फौजके छक्के छुड़ा रही थी, पर उसके सैनिक पीछे छूट गये और वह अकेली शत्रुओंके दलमें घिर गई। उसने देखा—अब वह अधिक देर तक वहाँ नहीं ठहर सकती। अपमानका एक नक़्शा उसकी आँखोंमें घूम गया। गिरफ्तारी, शत्रुओंके न्यायालयमें नीचा सिर, न्यायाधीशकी अपमान-जनक धमकियाँ, छिछोरे सिपाहियोंके व्यंग, कोड़ोंकी सज़ा और फाँसी!

वह काँप गई। उसके अन्तस्थलमें उसके वीर पिताकी वह वसीयत चमक उठी—'न्याय और स्वतन्त्रताका आदर्श सदा सामने रखना।' उसका मुख-मण्डल आत्माकी ज्योतिसे प्रदीप्त हो उठा। देखते-देखते उसने खंजर निकाला, हवामें उसे चमचमाया, हँसकर उसे एकबार चूमा और फुर्तीसे अपनी छातीके पार कर दिया।

सधा हुआ उसका दाहिना हाथ मूठ पर था, खूनकी धारा बह रही थी, चेहरे पर दृढ निश्चयका ओज था, ओठोंपर मुसकान थी और उसकी देह समर-भूमिमें पड़ी लोट रही थी। मरण-महोत्सवकी वह शान देखकर दुश्मन चकित रह गये। बन्दूकके घोड़ोंपर पड़ी उँगलियाँ वहीं रुक गईं, तलवारकी मूठोंपर जमी कलाइयाँ ढीली पड़ गईं। वीरताका सारा वातावरण कुछ क्षणके लिए करुणाकी अमन्द मन्दाकिनीमें तैर चला।

उफ़, उसके जीवनका सदा साथी वह खंजर! यह महाकवि बायरनका खंजर था—उसकी कविता-सा पैना और उसकी कला-सा चमकदार, देखनेमें सुन्दर और व्यवहारमें मर्मभेदी। हेलेनाको यह पवित्र परम्पराके रूपमें प्राप्त हुआ था।

व्यक्तिगत स्वार्थोंके लिए अपना ईमान और देशकी इज्जतका सौदा करनेवाले टोडी-विभीषण कहाँ नहीं हैं? क्रान्ति विफल हो गई, इसलिए हेलेना अब केवल एक विद्रोहिणी। उसकी लाश जंगलके एक कोनेमें अपमानपूर्वक फेंक दी गई। यही क्रान्ति सफल होती, तो जगह-जगह हेलेनाके स्टैच्यू खड़े किये जाते और ग्रीसके सारे उपवन अपनी सुमन-सम्पत्ति उसके शवपर बखेर, कृतार्थ होते!

मानवताके इतिहासमें जय और पराजयका कोई महत्त्व नहीं। ये दोनों एक स्थिति-विशेषके नाम-मात्र हैं, इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि पराजित होकर भी वीरताके इतिहासमें हेलेनाका नाम अमर है।

ओह, स्फुरणामयी, अंगारमयी, विद्रोहमयी वह हेलेना!

स्वतन्त्रता और संहारके उन अद्भुत क्षणोंमें

[१]

देशके लिए फाँसी पानेवालोंकी हमारे यहाँ कमी नहीं और न उन्हींकी, जिन्होंने खुली आँखों और खुली छातियों देशके लिए गोलियाँ खाईं, पर वे तो जीवित शहीद थे। उनकी सारी ज़िन्दगी एक शहीदकी ज़िन्दगी थी। वे उनमें न थे, जो मरकर शहीद होते हैं; वे उनमें थे, जो जीते-जी शहीद होते हैं—शहीद होकर भी जीते हैं!

हमारे राष्ट्रके उन शहीदोंका शत-शत अभिनन्दन, जो हँसते-हँसते जीवनके मोहको जीतकर फाँसी चढ़ गये और गोलियाँ पी गये, पर उनकी मौत उनके अधीन न थी। उनकी बलिहारी कि उन्होंने मृत्युको मित्र बनाया; उसके भयको उन्होंने जीत लिया, आत्मसात् कर लिया, पर जिनकी बात मैं कह रहा हूँ, वे निराले-ही शहीद थे। मृत्यु इनकी मित्र नहीं थी, दासी थी। वह उन्हें देखती रही, पर पास न आ सकी और जब उन्होंने चाहा कि वह आये, तो वह झिझकी, पर रुक न सकी।

वे मृत्युंजय शहीद सरदार अजीतसिंह थे; १५ अगस्त—भारतकी स्वतंत्रताका जन्मदिन, जिनकी यादमें हर साल श्रद्धाके फूल चढ़ाता है।

उनके जीवनकी कहानी बहुत लम्बी है। वह इतनी विषम है कि कहीं उसमें टीले, तो कहीं उसमें खड्डे। यह कहानी कभी फिर सुनाऊँगा, आज तो उनकी मृत्युविजयका पुण्य परायण करके ही आइये, पवित्र हो लें।

अपनी उठती जवानीमें वे भारतसे बाहर चले गये और वहाँ भारतकी स्वतंत्रताके लिए जो जब बन पड़ा और जो जब सूझा, करते रहे। अँग्रेज़ उनसे परेशान थे, घबराते थे और भारतकी ओर मुँह करके उनके खड़े होनेसे भी बेचैन हो उठते थे।

पिछली लड़ाईके आरम्भमें हिटलरने एक बार तो अंग्रेजोंको हिला दिया कि अब गिरे, अब गिरे, पर अजेय लेनिनग्राडने हिटलरकी नींव उखाड़ दी और अंग्रेज़-अमरीका मिलकर उभर चले। उन्हीं दिनों १६४३ में अमरीकी रक्षा पुलिसने सरदार अजीतसिंहको इटलीमें गिरफ्तार किया और अंग्रेजोंको सौंप दिया। वे जर्मनीके नज़रबन्दी कैम्पमें रक्खे गये, जहाँ अपने खर्चपर भी वे दवा और पूरी खुराक न ले पाये।

कैम्पसे वे अंधेरी कालकोठरीमें बन्द कर दिये गये। दुनियाने समझ लिया कि सरदार अजीतसिंह अब कभी इस कोठरीके बाहरका आकाश न देखेंगे और देखेंगे भी तो उस दिन, जब गोली उनका स्वागत करनेको तैयार होगी!

उनकी बीमारी बढ़ती जा रही थी और भारतमें उनके संबंधकी चर्चा भी। अंग्रेज़ राजनीतिज्ञोंने बीचकी राह खोज निकाली और सरदार साहबको कालकोठरीसे निकालकर टी. बी. के बीमारोंमें रख दिया। चारों ओर टी. बी. ही टी. बी. और उनके कमज़ोर फेफड़े! बस आज-कल-परसों, दोनोंमें दोस्ती हो ही जायगी। गोली भी बचेगी और गाली भी न मिलेगी। दुनिया सुनेगी—सरदार अजीतसिंह टी. बी. में मर गये।

भारतके इस महान् सपूतके साथ सैनिक क्रूरसे भी क्रूर व्यवहार कर रहे थे, पर उनकी इच्छा-शक्ति उन्हें बचा रही थी। फिर भी उनकी देह लोहा न थी कि चोट पड़ती और उन पर कुछ असर ही न होता—उन्हें दमेके दौरे पड़ने लगे। वे घंटों बेहोश रहते और आँखें फटी रह जातीं, वे कराहते रहते, पर उनकी कोई खोज-खबर न लेता।

उनके रक्षकोंकी सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी उन्हें बिना किसी हथियारके मार डालना ही तो थी! उन्होंने बादमें अनेक पत्रोंमें लिखा था—"······फौज मेरी मृत्युका लक्ष्य लिये चल रही थी।"

[२]

युग बदला, लड़ाईका पासा अंग्रेज़ोंके हाथ आया, पर उन हाथों,

जो कमज़ोरीसे काँप रहे थे। भारतमें अन्तरिम सरकार बनी और पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रधानमंत्रीके पदपर बैठे।

देशके इस बुजुर्ग सरदारको देखनेकी आवाज़ कोने-कोनेमें उठ खड़ी हुई। पंडित नेहरूकी दृढ़ताने अपना काम किया और सरदार अजीतसिंह दिसम्बर १९४६ में लंदन लाये गये। वहाँ उनका जो स्वागत-सत्कार हुआ, उसने उन्हें ताज़गी दी और तब ७ मार्च १९४७ को वे कराची और एक सप्ताह बाद दिल्ली पहुँचे। यहाँ उन्होंने देशके औद्योगीकरणके सम्बन्धमें प्रमुख नेताओंसे सलाह की और विदेशी विशेषज्ञोंकी सहायता लेनेका परामर्श दिया।

९ अप्रैलको वे लाहौर पहुँचे। वहाँकी राजनैतिक स्थिति बहुत गंभीर थी, फिर भी सभी राजनैतिक दलोंने उनके स्वागतसमारोहमें हाथ बँटाया। गरमी उनके लिए असह्य थी, इसलिए वे डलहौजी भेज दिये गये। यहाँ उनका स्वास्थ्य धीरे-धीरे सम्हलने लगा।

[३]

तीसरी जून सन् १९४७; भारतकी स्वतन्त्रता और भारतका बटवारा, एक साथ घोषित किये गये। रेडियो पर पंडित नेहरू, मि० जिन्ना, सरदार बलदेवसिंह और लार्ड माउंटबैटनने अपने सन्देश स्वयं सुनाये।

सरदार अजीतसिंहने रेडियो सुना, तो वे धकसे रह गये। उन्हें बहुत गहरा धक्का लगा। उन्होंने अपनोंसे साफ़-साफ़ कहा—"मेरे लिए यह असम्भव है कि मैं अपनी आँखों भारतको खंड-खंड होते देखूँ।"

देशमें १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-महोत्सवकी तैयारी हो रही थी और सरदार अजीतसिंह बेचैन थे। कई दिन पहले उन्होंने एक दिन अपनी पत्नी और दूसरे लोगोंसे कहा—"मैं यह पसन्द करता हूँ कि १५ अगस्तको स्वतन्त्रताकी घोषणा अपने कानों सुन लूँ और इस दुनियासे चला जाऊँ। इस तरह मैं अपनी ज़िन्दगीका वह मकसद भी अपनी आँखों पूरा होते देख लूँगा और आनेवाली बुराईको देखनेसे भी बच जाऊँगा।"

उनकी बात सबने सुनी, पर किसीपर भी इसका असर न हुआ; क्योंकि उनका स्वास्थ्य बराबर सुधर रहा था।

यह है १५ अगस्त १९४७ :

देश स्वतन्त्र हुआ, अंग्रेज़ोंका शासन ख़त्म; यों सरदार साहबका स्वप्न पूर्ण और उनके जीवनका यह महान् दिन ! सचमुच वे उस दिन बहुत ख़ुश थे। उन्होंने रोशनी की, मिठाई बाँटी।

रेडियोपर अपने कानों भारतके स्वतन्त्र होनेकी घोषणा सुनी, सोचते रहे। उन्हें छोटा-सा दिलका दौरा पड़ा, पर उन्होंने अपनेको सम्भाल लिया और ठीक समय सोने चले गये।

सबेरे कोई ४॥ बजे उन्होंने अपनी पत्नी और अपने मेज़बानको जगाया। देखनेमें वे ख़ुश और स्वस्थ थे, पर उन्होंने कहा—"मैं अपना विदाई-सन्देश लिखाना चाहता हूँ, क्योंकि अब मैं इस संसारको छोड़ रहा हूँ।"

उनकी बात निश्चित स्वरमें कही गई थी, पर किसीको उसपर विश्वास न था, फिर भी डाक्टरको बुलाया गया। डाक्टरने उनका पूरी तरह मुआयना किया और कहा—"सब कुछ एकदम ठीक है।"

उन्होंने भी डाक्टरकी बात सुनी और मुसकरा दिये। ओह, विश्वके इतिहासकी यह अद्भुत मुसकराहट ! उन्होंने कहा—"डाक्टरका विश्वास मत करो और मेरा सन्देश लिख लो। संसार भरमें मेरे मित्र हैं। उनसे इस समय मैं कुछ कह जाना चाहता हूँ। मैं उनसे बिना कुछ कहे ही चला गया, तो वे शिकायत करेंगे और उन्हें यह मालूम हुआ कि तुमने मेरी बात नहीं लिखी, तो वे तुमसे नाराज़ होंगे !"

उनकी बात टालनेकी हिम्मत किसमें थी—उनकी बात टालना ही कौन चाहता था, पर डाक्टरने कहा—"विदाई-सन्देश लिखनेसे इनका यह वहम कि मैं मर रहा हूँ एकदम पक्का हो जायगा और उससे इनका हार्टफेल हो सकता है।"

डाक्टरकी बात सबके मन भाई और उनका आग्रह बहानोंमें बहलाया गया—उन्होंने भी ज़िद न की। सबने इसे उनके वहमका शमन समझा। लम्बे कौचपर वे बैठे रहे, पैर पृथ्वीपर टिकाये। मुद्रा गम्भीर, गहरे चिन्तन में डूबे। अचानक उन्होंने पैर ऊपर फैला लिये और कमर तकियेसे टिका दी।

इशारेसे सरदारनीको उन्होंने अपने पास बुलाया। वह उनके सिर-हाने आकर खड़ी हो गई। सरदार बोले—"मैंने तुमसे शादी की थी और मेरा फ़र्ज़ था कि मैं तुम्हें आराम पहुँचाऊँ, तुम्हारी सेवा करूँ, पर तुम्हें मालूम है कि मैं एक बड़े काममें, हम सबकी माँ भारत माताकी सेवामें लग गया, उसीमें ज़िन्दगी गुज़ार दी। फिर भी मैं महसूस करता हूँ कि तुम्हारे बारेमें मैं अपना फ़र्ज़ पूरा नहीं कर सका और मेरी वजहसे तुम्हें बहुत तकलीफ़ें उठानी पड़ीं। अब यह मौक़ा आया था कि तुम्हारी कुछ सेवा करता, पर जो कुछ होनेवाला है, उसे देखना मेरे बसका नहीं, इसलिए मैं जा रहा हूँ। तुम्हारे सामने मैं क़सूरवार हूँ, पर तुम मुझे सच्चे दिलसे माफ़ कर देना।"

और पहले इसके कि सरदारनी कुछ कहे, उन्होंने झुककर दोनों हाथों से उसके दोनों पैर छू लिये। अब वे पूरे अपने कौचपर थे कि पैर फैले हुए और तकियेके सहारे बैठे—अधलेटे।

एक-दो मिनिट वे योंही रहे और तब उन्होंने पूरे ज़ोरसे पुकारा जय हिन्द। आवाज़ कमरेमें गूँजी कि एक लम्बा साँस और बस यही था उनका अन्तिम साँस!

रोमकी उस अँधेरी दुनियामें

कभी आगे और कभी पीछे ! सुबह इधर और शाम उधर। जय और पराजयके अन्तरका सन्तुलन करके परिस्थितियोंसे आँख-मिचौनी खेलना, राजनैतिक जादूगरोंके पैतरे हैं। वीर बढ़ता है, हटता नहीं। हारा करते हैं, नक्शोंके आधार पर शोणितकी प्याससे उन्मत्त, रणभूमिसे दूर बैठे युद्धका संचालन करनेवाले कमाण्डर। जो जान हथेली पर लिये, शहीदीका लक्ष्य साधे हृदयके सम्पूर्ण अरमानोंकी तन्मयताके नशेमें घरसे निकला है, विश्व भरमें मछलीकी आँख ही देखनेवाले अर्जुनकी तरह, अपने ध्येयके अतिरिक्त और कुछ जिसे दीखता ही नहीं, वह हारेगा क्या ? वीरताके विश्वकोषमें हारका अध्याय ही नहीं है।

मिटना ही जिसकी साध है, उसकी पराजय कैसी ? उसके लिए विषाद कहाँ, श्रान्ति कहाँ ? विश्वकी शैतानियाँ अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ आयें, गरजें, उसे क्या भय ? स्वर्गका प्रलोभन दुःख भरी इस दुनियामें उतर पड़े और लाख रूप बदले, जिसे अपने लिए कुछ चाह नहीं, अपने पास कुछ रखना नहीं, उसे क्या ? उसकी आँखोंमें प्रलोभन सबल सात्विकताका बाना पहनकर झाँकता है, कटुता मधुरताके रसमें पगकर उसके आँगनमें खेलती है और आँसू मुसकानकी स्वर्णमयी किरणोंमें प्रतिबिम्बित हो खिल उठते हैं।

अखण्ड यौवन, अमिट स्फुरणा, अथक उल्लास और अम्लान प्रगति वीरताके शब्द-चित्र हैं। सफलताके सुनहले वातावरणमें तो मुर्दे भी बोल उठते हैं, असफलताके घने अंधकारमें भी जिसके अरुण अधरोंपर मधुर मुसकान दोयजके चाँदकी रेखा-सी चमक उठती है, असली वीर वह है।

ब्रूनो ? हाँ, ब्रूनो वीर था। अपने विश्वासके लिए वह जीवन भर

लड़ता रहा। सफलताके ऊँचे सिंहासनपर बैठनेका अवसर उसे नहीं मिला, पर दम्भकी सारी दुनिया थी एक तरफ़ और वह था एक तरफ़; फिर भी कभी उसका पैर रुका नहीं और उसका उद्धत ललाट कभी झुका नहीं। वीर ब्रूनोके जीवनकी चरितार्थता यही है।

सोलहवीं शताब्दीके मध्याह्नमें रोमके एक सिपाहीके घरमें उसने आँखें खोलीं और नेपल्समें अपने चचाके घर उसका विद्यारम्भ हुआ।

उसने इटालियन भाषा पढ़ी और लेटिन, ग्रीक एवं स्पेनी भाषाओंपर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त किया।

विज्ञानमें उसकी रुचि थी, गणित उसे प्रिय था, कवि होकर तो शायद वह जन्मा ही था और संगीतका उसने गहरा अध्ययन किया। चार भाषाओंका ज्ञान और गम्भीर पाण्डित्य प्राप्त करनेके बाद वह १५ वर्षका हुआ। उसके किशोर मुखपर गम्भीर पाण्डित्यकी आभा खिल उठी। चारों ओर उसकी प्रशंसा हुई, पर उसकी भूख बहुत गहरी थी। भोला-सा वह कुमार एकान्तवासके लिए निकल पड़ा; जैसे ध्रुव भगवान्की खोजमें। बूढ़ोंने उसे समझाया, वयस्कोंने दाम्पत्य-रसका निरूपण किया, पर वह सिपाहीका पुत्र था; चारों तरफ़ दृष्टि डालकर वह आगे बढ़ गया।

१३ वर्ष! ओह, वे लम्बे १३ वर्ष, उसने एकान्तमें बिताये। सतत साधनामें स्नानकर उसका गम्भीर अध्ययन निखर आया। उसके जीवनका प्याला ज्ञानके सोमरससे लबरेज़ हो छलक उठा। वह भीतरसे बाहर आनेके लिए मचलने लगा। ब्रूनोने अपनी एकान्त साधना-कुटीसे बाहरकी ओर झाँका।

चारों ओर धर्मके नामपर शैतानियतका आतंकपूर्ण साम्राज्य छाया हुआ था। धर्माध्यक्षोंकी तूती बोल रही थी और ये धर्माध्यक्ष दानवी दम्भके पताकेसे, अत्याचारकी मूर्ति, दर्पके दैत्य और विचारोंकी स्वतन्त्रताके शत्रु, अन्धविश्वासके संरक्षक, शक्तिके सामन्त और अनाचारके अंगरक्षक। ब्रूनोकी साधना विद्रोही हो उठी, वह सिहरकर बाहर आया।

उसकी वाणीसे फूट निकला—"अंधे होकर शैतानियतके पीछे दौड़नेवालो, आँखें खोलो, बुद्धि भगवान्का सर्वोत्तम वरदान है, किसी भी पथको, विचारको, बुद्धिकी कसौटीपर कसकर क़दम बढ़ाओ !"

अन्ध-विश्वासकी उस अँधेरी दुनियामें ब्रूनोके बुद्धिवादकी यह गर्जना प्रलयकालीन बिजलीकी तरह कौंध गई। जनता चौंकी और स्वार्थान्ध धर्माधिकारी सजग हुए। उन्होंने देखा—उनके दुर्जय दुर्गमें नाटा-सा एक आदमी कहींसे घुस आया है और गुरुडम-गढ़की दीवारें उसकी गर्जनासे टकराकर काँप रही हैं। दुरभिसन्धियाँ प्रारम्भ हुईं, पादरी खड्गहस्त होकर उठे, पर ब्रूनो तबतक आगे बढ़ गया।

जिनोईज़ प्रान्तमें कुछ दिन बैठकर उसने ज्योतिषका गहरा अध्ययन किया और पृथ्वीके घूमनेका वह ज़ोरदार समर्थक हो गया, दूसरे लोकोंके अस्तित्वमें भी वह विश्वास करने लगा। यह उसका दूसरा भयंकर अपराध था।

धर्मोंके सम्बन्धमें वह सहिष्णु था—मतभेदका स्वागत उसे अभीष्ट था, पर अपनी आत्मा और विवेकका मूल्य भी वह जानता था। धर्मान्धता एवं गुरुडमके उस अँधेरे युगमें वह वैज्ञानिक बुद्धिवादकी प्रतिष्ठा चाहता था।

ईश्वरमें उसका दृढ़ विश्वास था, पर उसका ईश्वर ईसाई धर्मके किसी ख़ास सम्प्रदायके ऊलजलूल नियमोंमें आबद्ध न था और न वह गिरजाघरमें ही सीमित था। इस सम्बन्धमें ब्रूनोका ज्ञान साधनामय अन्तर-दर्शनके आलोकमें भारतीय वेदान्तका सच्चा सहगामी था।

मानवताका वह पुजारी था, पर मानवताके विरोधियोंपर उसकी वाणी अंगार बनकर बरसती थी, उसके तर्क त्रिशूल हो उठते थे और उसकी गर्जना उन्हें तिलमिला देती थी। उसकी भाषण-कलामें ओज था, प्रवाह और व्यावहारिकताकी सरसता थी, पर उस युगकी जनता धर्मान्धताके अन्धेरे

कूपमें डुबकियाँ ले रही थी, इसलिए उस तक अपनी आवाज पहुँचानेमें उसे काफ़ी देर लगी, पर वह निराश न हुआ।

वह एक देशमें पहुँचता, कुछ करारे भाषण देता, कुछ लेख लिखता और कुछ पुस्तकें प्रकाशित करता। धर्माधिकारी चौंकते, उसपर चोटें करते और वह दूसरे देशमें बढ़ जाता। खेत काटनेका उसे मोह न था। वह खेत तैयार करता, बीज बोता और दूसरे बंजरकी ओर आँख फेरता।

उस युगमें यातायातके आज-जैसे साधन न थे और न यह वातावरण ही था। ब्रूनो जैसे आदमियोंके लिए प्रायः उसके पैर ही वाहन थे और धार्मिक मतभेद उन दिनों शत्रुताका पर्याय था। फिर भी उसने हिम्मत न हारी और १६ वर्ष तक वह अपने विचारोंका प्रचार करता यूरोपके विविध देशोंमें चक्कर काटता रहा।

जहाँ वह गया, विद्वानोंसे बहसा, अधिकारियोंसे टकराया और जनता से ठुकराया गया, पर उसकी सहिष्णुता अखण्ड थी—उसका धैर्य अटूट था। उसकी हिम्मत कभी टूटी नहीं, साहस छूटा नहीं। अपने लक्ष्यका वह दीवाना अपने ध्येयकी पूर्तिमें जुटा रहा। उसका सम्मान था विद्वानों की गालियाँ, उसकी प्रतिष्ठा थी जनताके हुल्लड़ोंकी व्यंगभरी तालियाँ, उसके कार्यका पुरस्कार था अधिकारियोंकी क्रूर दृष्टि और उसके गम्भीर पाण्डित्यकी पूजा थी नास्तिकताका फतवा।

जेनेवा, जर्मनी, फ्रांस, वेनिस, वर्टेम्बर्ग आदिमें प्रचार करके वह लन्दन पहुँचा। ओह, डेढ़ लाखकी आबादीका वह तबका लन्दन। रानी एलिजाबेथ वाला लन्दन; जहाँ भाषणकी स्वतन्त्रता ज़ब्त, प्रेसपर पाबन्दी और प्रकाशनपर सैंसर! बड़ी मुश्किलसे उसे आक्सफोर्डमें भाषण करनेकी आज्ञा मिली। उसकी वही गरज और विद्वानोंकी वही कपकपी; आख़िर एक दिन शास्त्रार्थ हुआ।

एक तरफ़ थे सुन्दर चोगों और जड़ाऊ अंगूठियोंसे सुसज्जित यूनिवर्सिटीके अधिकारी, जिनके चेहरोंपर थी उजड्डता और जो पूर्णतया

शून्य थे सौजन्य और शीलसे । ब्रूनोके शब्दोंमें, जैसे गँवार ग्वाले ! दूसरी तरफ़ था ब्रूनो, जिसका शरीर था सूखा और बाल थे रूखे, कपड़े मैले और कोट इतना पुराना कि उसके बटन नदारद, पर चेहरे पर साधनाकी सात्विक सुषमा, पैरोंमें दृढ़ता, आँखोंसे पैनापन, कन्धे तने हुए और सिर उभरा हुआ ।

उन प्रोफेसरोंके साथ थी शासनकी सत्ता और एकत्रित जनसमूह की सहानुभूति, पर ब्रूनोके साथ था उसका आत्मबल और उसके ध्येयकी पवित्रता ।

ब्रूनोने अपने सिद्धान्तकी स्थापना की । प्रोफेसरोंका धर्म-ज्ञान इन्साल्वेण्ट हो गया । यह तर्कका मैदान था, धर्म-पुस्तकके उद्धरण या प्राचीनता की दुहाई यहाँ बेकार थी । वे झुँझला उठे, गालियोंकी झड़ी लग गई । ब्रूनो जब भी उठा, मुसकराया, शान्तिसे बोला और यों उसने विपक्षीको निरुत्तर कर दिया । तीन महीने तक आक्सफोर्डमें भाषण दे, वह लन्दन लौट आया और वहाँ विद्वानोंसे मित्रतापूर्ण विचार-विनिमय करता रहा ।

जब वह जर्मनीमें था, उसे रोमकी याद आई । ओह, मातृभूमिका प्रेम । रोम जाना खतरेसे खाली न था; क्योंकि वहाँके पादरी उसपर खार खाये बैठे थे, पर वह खतरोंसे खौफ़ खाता ही कब था ? जर्मनीसे चलते समय उसने कहा—"मृत्यु डरनेकी चीज़ नहीं है और मनुष्यके जीवनमें तो अनेक अवसर ऐसे आते हैं, जब मृत्युका सामना करनेके लिए उसे मृत्युको निमन्त्रित करना पड़ता है ।"

ब्रूनोके बोये बीजोंमें अंकुर फूटने लगे थे और यूरोपमें उसकी विद्वत्ताकी ख्याति हो चली थी । एक मित्रके निमन्त्रणपर जर्मनीसे जब वह वेनिस गया, तो वहाँकी साहित्य-परिषद्ने उसका सार्वजनिक सम्मान किया । धर्माधिकारी उसके इस सम्मानसे और भी भड़क उठे । एक दिन जब ब्रूनो सो रहा था गिरफ्तार कर लिया गया । यह उसके मित्रका विश्वासघात था ।

*होली आफ़िस [धर्मकी अदालत] में उसका मुक़दमा आरम्भ हुआ। ओह ये 'होली आफ़िस' ! शैतानियतके इस चक्करमें जो गया, सो गया। इन आफ़िसोंके न्यायाधीशका एक प्रश्न था—रोमन कैथॊलिक बनते हो ? इस प्रश्नके हाँ और ना पर ही अभियुक्तका जीवन-मरण निर्भर था। हाँ मुक्तिका पथ था और ना रौरव का ! मृत्यु, जीवित दाह, काल-कोठरी, हण्टरोंकी मार, यातना और परेशानी, ये इसके सोपान थे। ब्रूनोने यही पथ चुना।

उसने कहा—"मेरी भूल कोई मुझे समझाये, तो मैं प्रायश्चित्तके लिए तैयार हूँ, पर कोई समझाये तो ! और मेरे सिद्धान्त ? वे अटल हैं; उन्हें बदलनेकी अपेक्षा मृत्युका आलिंगन मुझे अधिक प्रिय है।" ब्रूनोके विरोधी भी उसकी प्रतिभासे प्रभावित थे। उसके विरोधी वकीलने कहा था—'धर्मके विरोधमें खड़ा होकर ब्रूनोने मूर्खता की, पर उसकी विद्वत्ता विलक्षण है और मस्तिष्क अद्वितीय। आजके इस युगमें वह अपने ढंगका इकला आदमी है।"

"कालकोठरीमें बन्द कर दो इस मूर्खको। चला है धर्मविरोध करने। वहाँ इसका मिजाज दुरुस्त हो जायगा।" पोपने दण्ड-घोषणा कर दी। ब्रूनो जेलकी अँधेरी कोठरीमें ठूँस दिया गया। तब १५९३ सन् चल रहा था। १५९९ तक उसे नित नूतन पद्धतिसे सताया गया, पर ब्रूनो अटल रहा। ओह, ज्वालामुखीमें खेलनेके ये ६ वर्ष !

पोपने देखा—जेलकी यातनाएँ ब्रूनोका उद्धत ललाट नहीं झुका सकतीं। प्रतिहिंसासे उसका अहंकार जल उठा। ब्रूनो फिर न्यायालयमें लाया गया और उसे फाँसीकी सजा सुनाई गई। हँसकर उसने जजोंसे कहा—

*** यूरोपके इन आफ़िसोंकी कहानी रौरवसे भी अधिक रोमांचकारी है। पचासों हज़ार आदमी इनमें ज़िन्दा जलाये गये हैं, इतने ही फाँसी चढ़े हैं और लाखोंको जेलोंकी कोठरियोंमें सड़ाकर मारा गया है।**

"मैं एक साधारण बन्दी हूँ और तुम शक्ति-सम्पन्न न्यायाधीश, पर दण्डका यह विधान घोषित होते समय तुम डर रहे हो और मैं शान्त हूँ।"

उस दिन सन् १६०० की १७ वीं फरवरी थी। रोमके एक मैदानमें मेला-सा लगा था। हजारों आदमियोंकी भीड़ थी—उत्साहसे उछलती हुई और हर्षसे किलकारती; जैसे आज कोई खास तमाशा होनेको है। मैदानके बीचमें लकड़ियोंकी एक चिता सजी थी। चिताके मध्यमें एक मज़बूत लट्ठा लगा था और उसपर बँधा था ब्रूनो!

अधिकारियोंने कहा—"अब भी तुम कैथलिक चर्चकी शरणमें आकर जीवनकी भिक्षा पा सकते हो। याद रक्खो कि धर्मका द्रोही इस संसारमें शान्तिसे नहीं रह सकता।"

ब्रूनोके अधरों पर एक सुनहरी रेखा खिंच गई। गम्भीर स्वरमें उसने कहा—"मेरा विश्वास अटल है। बुद्धिके क्षेत्रसे बाहर किसी धर्म-ग्रन्थका आदेश मान्य नहीं हो सकता। प्रत्येक विचार तर्ककी लेबोरेटरीमें परीक्षित होना चाहिये। मुझे मृत्युका भय नहीं है। तुम अपना काम करो।"

पादरी हँस पड़े। उनका यह हास्य जनताके अट्टहासमें मिलकर सारे मैदानमें गूँज उठा। लकड़ियोंमें आग लगा दी गई। ज्वालामयी वह्निकी लपटें धू-धू कर जल उठीं। यूरोपका वह महान् दार्शनिक, महान् कवि और महान् विचारक जीवित जलने लगा, पर उसके चेहरे पर अब भी वही शान्ति थी। ब्रूनो जलकर राख हो गया, पर अडिग रहा। यही उसकी साधनाकी पूर्णता थी।

आज रोमके उस मैदानमें ठीक उस चिताके स्थान पर एक भव्य पाषाण-मूर्ति खड़ी है। यह वीर-वर ब्रूनोकी स्मृतिका सम्मान है। १८८९ में, ब्रूनोकी शहीदीके लगभग तीन शताब्दी पीछे उसके भक्तोंने इसकी स्थापना की थी।

सत्यका पुजारी और ज्ञानका देवता महात्मा ब्रूनो ज़िन्दा जलकर भी अपनी सम्मानपूर्ण स्मृतिके रूपमें आज जीवित है, पर अत्याचारका पुतला वह पोप और उसका वह दम्भ-दुर्ग समयकी आँधीके झोंकोंमें टकराकर खील-खील हो गया और उसकी कलंक-कालिमा आज भी विश्वके द्वार-द्वार उसकी मृत्युकी कहानी कहती फिरती है।

जेलकी उन डरावनी दीवारोंमें !

वे १९३२ के आतंक भरे दिन थे। मैं भी एक आज्ञा न माननेके अपराधमें उन दिनों दो सालके लिए सहारनपुर जेलका मेहमान था। रोज़ ही नये-नये क़ैदी आते थे। यह साधारण बात थी, पर उस दिन अचानक इस साधारणतामें एक असाधारणता आ गई। मैं ७ नं० वार्डमें बैठा बान बाँट रहा था कि सिसकियाँ सुन, चौंक पड़ा। एक नई क़ैदिन हत्याके अभियोगमें गिरफ्तार हो, महिला वार्डमें जा रही थी। उम्र होगी कोई २० वर्ष। रंग पक्का और आकृति सुन्दर, चढ़ती उम्र और आँखोंमें हसरतें, चेहरेपर वेदनाकी छाप और चालमें सुस्ती। मनपर एक ठेस लगी, यों ही हल्की-सी। ऐसे क़ैदी वहाँ रोज़ ही आते थे। शामको मैंने जमादारनी से पूछा—"क्या किया है जी, इसने ?"

"दो लड़के मार डाले, छुरेसे इस राक्षसीने, बाबूजी !" जमादारनीने कहा। मनमें आया दयाका भाव उपेक्षामें बदल गया। स्त्री क्या है शैतान है पूरी !

मुक़दमा होनेके बाद उसे ८ सालकी सजा हो गई। कचहरीसे लौटते समय उसे उस दिन फिर देखनेका अवसर मिला। उसके मुखपर वेदनाकी इतनी गहरी छाप थी कि मैं प्रभावित हुए बिना न रहा। फिर भी उसके सम्बन्धमें कुछ ज़्यादा जाननेका अवसर न मिला; कुछ ही घड़ियोंमें मैं उधरसे निश्चिन्त हो गया और फ़ैजाबाद तबादला हो जानेपर तो मुझे उसकी याद ही न रही।

जेलसे छूटनेके बाद ! मैंने नया मकान बदला था। शामको आकर मैंने अपनी पत्नीसे पूछा, तुम्हारा पड़ौस तो अच्छा है ? इसी समय पड़ौसकी एक लड़की आ गई और साथ ही श्रीमती मेहरोत्रा। मैंने लड़की

से उसका नाम पूछा, तो वह सकुचाई। मेरी मुन्नीने कहा–इसका नाम हाजरा है पिताजी! हाजरा नाम सुनकर श्रीमती मेहरोत्रा चौंकीं, उनके मुँहसे निकल गया–ओह, उस अभागीका नाम भी हाजरा ही था!

"कौन हाजरा?" मैंने यों ही पूछा।

"जब मैं सहारनपुर जेलमें थी, तो वहाँ एक क़ैदिन थी हाज़रा। बिचारी बड़ी दुःखी थी। मजिस्ट्रेटने उसे ८ सालकी सजा कर दी थी, पर असलमें वह निर्दोष थी!

मेरे हृदयमें एक पुरानी स्मृति जाग उठी। "मैंने भी उसे देखा था, उसके चेहरे पर बड़ी गहरी वेदनाकी छाया थी, पर उस दुष्टाने तो किसीके दो लड़के क़त्ल कर दिये थे?" मैंने कहा।

श्रीमती मेहरोत्राकी आँखें बरस पड़ीं। उन्होंने काँपते कण्ठसे कहा– "किसीके नहीं, उसने अपने ही दो लड़के क़त्ल कर दिये थे!"

"अपने लड़के! क्यों?"

उन्होंने उसकी कहानी आरम्भ की—

"हाजरा एक ग़रीब मुसलमानकी पत्नी थी। उसका मालिक गुलशन एक कारख़ानेमें मजदूर था। २०-२५ रुपये महीना वह कमाता था और उसीमें सब लोग आनन्दसे अपनी गुज़र करते थे। हाजरा सुन्दर थी, यह सुन्दरता ही उसके सर्वनाशका कारण बनी। वह रोज़ कारख़ानेमें अपने पतिको रोटी देने जाया करती थी। एक दिन कारख़ानेके मालिककी निगाह उस पर पड़ी, पर प्रेमका प्रस्ताव हाज़राने ठुकरा दिया, तो गुलशनको नौकरीसे अलग कर दिया गया। जो कुछ पूँजी थी वह एक ही मासमें समाप्त हो गई। दूसरा मास उधार पर चला, तीसरे मास फाके होने लगे। गुलशन नौकरीकी तलाशमें बाहर चला गया। हाजरा प्रतीक्षा करती रही। बच्चे भूखे तड़फने लगे, पर वह माँग-माँग कर उन्हें पालती रही। एक दिन गुलशनकी एक चिट्ठी आई। लिखा था–कहीं रोजगारका

बानक नहीं बना। आज भूखों मरते कई दिन हो गये, अब इस अन्धी दुनियासे जा रहा हूँ। खुदा तुम्हारी परवरिश करे।

हाजरा काँप उठी। जिस आशाके सहारे उसने ये ७ दिन काटे थे, वह भी आज टूट गई। उसने देखा घरमें वह अकेली है; खुद भूखी है, बच्चे भूखों बिलबिला रहे हैं और कोई सहारा नहीं। इसी समय एक बच्चेने कहा–"माँ, भूखों दम निकल रहा है।"

"सो जा, बेटा !" हाजराने प्यारसे कहा।

"भूखे नींद कहाँ आती है, तू ही सुला दे !" बच्चेने कहा।

हाजराके मनमें एक भीषण संकल्प उठा। उसने कहा–"अच्छा बेटा, मैंने ही तुम्हें जगाया था, मैं ही तुम्हें सुलाती हूँ। यों तड़प-तड़प कर सोनेसे एकदम सो जाना अच्छा है। तुम्हें सुलाकर मैं भी सो जाऊँगी।"

उसका मातृत्व उसके संकल्पके पथमें आकर खड़ा हो गया।

"बेटा ! तुम जागते रहो और मैं सो जाऊँ ?" हाजराने कुछ सोच-कर कहा।

"नहीं अम्माँ, पहले हमें सुला दो, जान निकल रही है।" बालक-ने कहा।

हाजरा उठी, भीतरसे अपने पतिका तेज़ छुरा उठा लाई और उसने बालककी गर्दन पर फेर दिया। खूनकी धार बह चली। रणचण्डीकी तरह वह उठी, पास ही दूसरा बालक सो रहा था, तड़प-तड़प कर वह अभी सोया था। हाज़रा उसके पास जा पहुँची। बालक कोई स्वप्न देख रहा था। सोते-सोते सहसा उसने मुँह खोला। शायद रोटी मिल जानेका स्वप्न था। हाजराने एक ही हाथमें उसकी भूख शान्त कर दी।

छोटा-सा चौक था, खूनकी नदी बह कर बाहर पहुँची और हाजरा जब अपनेको सुलानेका प्रयत्न कर रही थी पकड़ी गई।"

कहानी सुनकर मैं रो पड़ा !

"जेलमें इस बारेमें वह आपसे कुछ कहा करती थी क्या ?" मैंने पूछा।

"वह ज्यादातर घुटनोंमें सिर दिये बैठी रहती थी। कभी रो लेती, कभी चुप हो जाती। जहाँ तक बनता जेलके काममें लगी रहती। [एक दिन जब रोटी आई, तो उसने कहा था—मुझे जेलखानेका पता होता, तो मैं उन्हें क्यों बाहर जाने देती। सौ बहाने हैं, किसी न किसी बहाने हम सब जेलमें घुस आते। यहाँ लाख दुःख हैं, पर पेटका यह गड्ढा तो भर जाता है]

अब भी हाजरा जेलमें थी और श्रीमती मेहरोत्रा कभी-कभी उससे मुलाक़ात कर आती थीं। उन्होंने कहा—"अब वह बहुत कमज़ोर हो गई है। मैं उसे दयाके नामपर छुड़ानेकी कोशिश कर रही हूँ। उसके छूट जानेकी उम्मीद होने लगी है। क़ामयाब हो गई, तो उसे अपने पास रख लूँगी और अपने दोनों बच्चे उसे सौंप दूँगी।"

दूसरे दिन मैंने जेलोंके इन्सपेक्टर जनरलको उसके सम्बन्धमें पत्र लिखा, तो उत्तर मिला कि साँपके काटनेसे उसकी अभी कुछ दिन हुए मृत्यु हो गई।

अपने संस्कारके अनुसार मेरे मनमें आया—यह साँप गुलशन ही तो नहीं था, जो दुःखसे तड़पती अपनी हाजराको यों आकर बुला ले गया ?

पैरिस-झीलकी उस भयानक संध्यामें !

१६१४ का जर्मन-वार उन दिनों दुपहरीमें था। कैसरका तेज तप रहा था, संसारभरमें उसके नामकी धाक थी। संसारकी महाशक्तियाँ, सपने में उसे देखतीं, तो पसीनेसे तर हो जातीं। बेल्जियमको वह कुचल चुका था, रूस हिल रहा था और फ्रांसपर उसकी भयंकर आग उगलनेवाली तोपें गरज रहीं थीं, फ्रांस परेशान था।

वह दिन फ्रांसके जीवन-मरणका दिन था, अत्यन्त संकटपूर्ण। पैरिस घिरा हुआ था—फ्रांसकी ही फौज़के घेरेमें, किसीको भी शहरसे बाहर जाने की आज्ञा न थी–राजधानीका सम्मान ख़तरेमें था। पैरिसके पास ही झीलके उस पार जर्मनीकी फौजें पड़ी हुई थीं। नागरिकोंके लिए दीप जलाना और चूल्हा जोड़ना भी मना था, खाद्य-सामग्रीपर फौज़का कब्जा था; जनताका जीवन ऊब उठा था, पर कहीं गति न थी–कुहारोंकी चादर ओढ़े अपने सौन्दर्य और वैभवके यौवनमें इठलानेवाली पैरिस-परी मूर्छित-सी पड़ी थी। ओह, बड़े दयनीय दिन थे वे ! तभीकी बात है।

मारिसेट भूखसे खिलखिलाया, अनमना-सा अपनी घड़ियोंकी दूकानकी ओर जा रहा था। उसके पैर चल रहे थे, पर मस्तिष्क उसका शून्य था। अचानक वह किसी आदमीसे टकरा गया। क्षमाके भावसे उसने उसकी ओर देखा और वह खुशीसे चिल्ला उठा–"ओह् यार सोवेज़, तुम कहाँ ? कहो, खाने-पीनेका क्या डौल है ?"

"खाने-पीनेका डौल ? कुछ नहीं ! परसों एक जंगली कबूतर हाथ लग गया था, उसमें तीन साझी थे, तबसे अबतक पेट महाशय इन्तज़ार की शूलीपर लटक रहे हैं।"

"अजीब आफत है भाई ! पहली जनवरी और यह मनहूसियत, आओ

न ज़रा झीलतक हो आएँ ! तुम्हारा घर पास ही है, उठा लाओ काँटा; दो-चार मछलियाँ हाथ लगेंगी, तो पेटमें गरमाई आयगी।"

"पागल हुए हो, अब झील कहाँ और काँटा कहाँ ? यह फ़ौज़ी घेरेका काँटा जो चारों ओर लगा हुआ है !"

"इस काँटेकी काट तो मेरे पास है यार, तुम मरे क्यों जा रहे हो; लाओ तो काँटा।"

"आख़िर वह काट क्या है, मैं भी सुनूँ तो !"

"दक्षिण मोरचेके सेनापति मि० डुमोली मेरे मित्र हैं, वे हमें बाहर जानेका परवाना और लौटनेका संकेत-शब्द दे देंगे। कहो, अब क्या रुकावट है ?"

ठण्डकका दिन, चढ़ती हुई धूप, भूखा पेट, मित्रका साथ और सामने मछलियोंसे भरी झील ! मारिसेट और सोवेज़ काँटा फेंककर मछलियोंका शिकार खेलने लगे। सामने ही-दूरीपर जर्मन-फौज़का शिविर था। उसे देखकर मारिसेटने कहा—"क्यों जी ! जर्मन जर्मनीमें सुखसे रहें, फ्रांसीसी फ्रांसमें और दोनों एक दूसरेके सुख-दुःखके साथी रहें, यह बात इन लोगों के गले क्यों नहीं उतरती ?"

"मनुष्यपर जब शैतान सवार होता है, तो वह राक्षस बन जाता है। आजकी दुनिया इसी हालतमें है और इसीलिए चारों ओर ख़ूनकी नदियाँ बह रही हैं, सारा संसार अशान्त है।"

"इन बादशाहों और सरकारों पर अगर शैतान सवार है, तो ये आपसमें कट मरें या कमर पर भारी पत्थर बाँधकर इस झीलमें आ-डूबें, पर नये-नये नशे पिलाकर ये जनताको इस शैतानियतका शिकार क्यों बनाते हैं ?"

इसी समय जर्मन-शिविर तोपोंके गोलोंसे गूँज उठा और पैरिसके क़िलोंकी तोपोंने आकाशमें धुआँधार मचा दिया, पर मारिसेट और सोवेज़का इधर ध्यान नहीं था, वे मछलियाँ पकड़नेमें तल्लीन थे। अचानक

चौंककर मारिसेटने कहा—"क्यों जी, अगर ये जर्मन–सिपाही हमें यहाँ देख लें तो ?"

सोवेज़को इस समय शिकारका मज़ा आ रहा था। काँटेसे बिना निगाह हटाये, रस भरे स्वरमें उसने कहा—"तो क्या है ? देख लें, तो फिर देख लें। वे हमारे पास आयँगे, तो कुछ मछलियाँ हम उन्हें भी दे देंगे। अरे भाई ! आख़िर दुनिया खानेके लिए ही तो लड़ती है।"

"पर जर्मन-सिपाहियोंकी भूख तुम्हारी मछलियोंसे नहीं बुझ सकती; नकी संगीनें तो तुम्हारे ख़ूनकी प्यासी हैं कम्बख्तो !"

एँ, चौंककर दोनोंने पीछेकी ओर देखा। पाँच जर्मन सिपाही संगीनें ताने खड़े थे। मारिसेट और सोवेज़ गिरफ्तार कर लिये गये।

जर्मनीके सुव्यवस्थित शिविरमें, एक बड़े कैम्पके सामने ऊँची कुरसी पर, एक विशालकाय अफ़सर फौजी रौबसे बैठा था और दो बन्दी उसके सामने उपस्थित थे—मारिसेट और सोवेज़।

हवलदारने कहा—"सेनापति ! ये दोनों फ्रांसीसी जर्मन शिविरमें जासूसी करते हुए पकड़े गये हैं। मेरा अन्दाज़ा है कि ये हमारा कार्य-क्रम उड़ाना चाहते थे।"

सेनापतिने रोषकी मुद्रामें बन्दियोंकी ओर देखा। इस दृष्टिमें एक आतंक था, एक प्रश्न। अल्हड़पनसे सोवेज़ने कहा—"हम दोनों फ्रांसके साधारण नागरिक हैं और मछलियोंका शिकार करने ही झील पर आये थे।"

"युद्धके समय कोई साधारण नागरिक यहाँ नहीं आ सकता। मुझे मालूम है कि पैरिस घिरा हुआ है। याद रक्खो, मुझे बहकाकर तुम अपने घर नहीं लौट सकते।" धमकीके स्वरमें सेनापतिने कहा—"जानते हो जर्मन शिविरमें जासूसीका एकमात्र दण्ड गोलीका निशाना है।"अफ़सरकी तेज़ आँखें बन्दियोंके मुँहपर आ ठहर गईं।

मारिसेटने निश्चित भावसे कहा—"वीर सेनापति ! हम

भगवान्‌को साक्षी करके कहते हैं कि जासूसीके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है।"

सेनापतिका पौरुष गरज उठा—"चुप रहो कायर! अपने भगवान्‌को याद करो और तैयार हो जाओ। जर्मन गोलीकी मार तुम्हारे सारे रहस्योंका उद्‌घाटन कर देगी।" मारिसेट्‌ने सोवेज़की ओर देखा। वह मछलियोंकी थैलीकी ओर देख रहा था।

"तुम्हारी प्राण-रक्षाका अब एक ही उपाय है।" सेनापतिने कहा, तो दोनों बन्दियोंकी आखें आशासे खिल उठीं और दोनोंके मुँहसे एक साथ निकल पड़ा—"क्या?"

"फौजी घेरेके अन्दर जानेका संकेत-शब्द बताकर तुम निश्चित भावसे घर जा सकते हो।" सेनापतिने नम्रतासे कहा।

बन्दियोंकी आशाभरी सुकुमार मुख-मुद्रा कठोरतामें बदल गई। कड़क-कर सोवेज़ने कहा—"हम फ्रांसके जासूस नहीं हैं सेनापति, पर उसके नागरिक अवश्य हैं और हमारे देशके नागरिकशास्त्रमें विश्वासघातका कोई परिच्छेद नहीं है।"

"और अगर अपने राष्ट्रके साथ विश्वासघात ही प्राणरक्षाका वह उपाय है, तो सेनापति यह नोट कर लें कि फ्रांसके नागरिक इज्ज़तके साथ मरना खूब जानते हैं।"—मारिसेटने सोवेज़का भाव पूरा करते हुए कहा।

सेनापतिका चेहरा तमतमा उठा—"कुत्तो! तुम्हारी फ्रांसीसी नागरि-कताका यह जोश अभी ठण्डा हुआ जाता है।"

सेनापतिकी आँखें ऊपर उठीं। बन्दियोंके सामने कुछ ही क़दमपर अपनी संगीनें साधे बीस जर्मन सिपाही उपस्थित थे। "धज्जियाँ उड़ा दो इन बदमाशोंकी" गरजकर सेनापतिने कहा। बीस बन्दूकें तनीं, मृत्यु और जीवनके मध्यमें ओह, ये कुछ पल! सेनापतिके संकेतपर स्वर्णका ढेर

बन्दियोंके क़दमोंके पास लगा दिया गया। सेनापतिने मुहब्बतकी मुद्रामें दोनोंके कन्धोंपर हाथ रक्खा—"क्यों यह क़ीमती जान बेकार खो रहे हो ? एक तरफ़ यह वैभव है, दूसरी तरफ़ कुत्तेकी मौत ? तुम चाहो, तो तुम्हें जर्मनीके शासनमें कोई ऊँचा पद भी मिल सकता है। सुखमय-जीवन और दुःखमय मौत, दोनों तुम्हारे हाथ हैं। बोलो, क्या चुनते हो ?"

दोनों बन्दियोंकी आँखें मिलकर चार हो गईं। हृदयकी भाषामें एकने दूसरेसे राय पूछी। दोनोंके कन्धे तने हुए थे। मारिसेटने कहा—"सेनापति, सोनेके कुछ टुकड़ों पर मानवताके विनाशका पेशा करनेवाले सेनापति, तुम्हारी नज़रोंमें सोनेके इस ढेरका कुछ मूल्य हो सकता है, तुम्हें यह मुबारक; ग़रीब नागरिकके लिए तो उसकी ईमानदारी ही उसका वैभव है।"

सोवेज़ने अत्यन्त दृढ़तासे कहा—"तुम्हारे हाथोंमें आज शैतानियतकी शक्ति है और हम जानते हैं, तुम्हारी बन्दूक़ें अभी कुछ क्षणोंमें हमारे शरीरकी धज्जियाँ उड़ा देंगी, पर मानवताके इतिहासमें संसार तुम्हारे नाम-पर घृणासे थूकेगा और हमारा नाम फिर भी सम्मानके साथ लिया जायगा।"

सेनापतिका धैर्य छूट गया। क्रोधसे तिलमिलाकर वह चिल्लाया—"ओह, मरने दो इन शैतानोंको।"

बीस बन्दूक़ें उठीं, सिपाहियोंकी सधी हुई उंगलियाँ घोड़ोंपर जा पड़ीं और 'धड़ाम' के शब्दसे झीलका वह किनारा काँप-काँप उठा। कई दिनसे भूखे दो शरीर बीस गोलियोंकी राक्षसी मारसे तार-तार हो छितर गये।

ओह, वह दृश्य ! सोनेके सिक्कोंका ढेर और उसके पास पड़े हुए दो मानवोंके शव—खूनसे लथपथ मांसके कुछ लोथड़े; जैसे प्रलोभन और नेस्पृहताके दो विरोधी प्रतीक।

वे लोथड़े उठाकर झीलमें फेंक दिये गये। मारिसेट और सोवेज़ जिन

मछलियोंका शिकार करने कुछ देर पहले आये थे, उनका महोत्सव हो गया—मछलियाँ उन्हें खा गईं।

स्वतंत्र फ्रांसमें आज भी वह झील है, उसका वह किनारा है और सुबह-शाम बहुत-से नागरिक वहाँ घूमने आते हैं। मारिसेट और सोवेज़ की चर्चा वहाँ प्रायः रोज़ ही होती है। सचमुच झीलके उस किनारेका कण-कण उनकी यादसे भरपूर है।

ओह मारिसेट, ओह सोवेज़, ईमानदार देशभक्त नागरिकताके अमर प्रेरणा-पुंज !

मानवीय पशुताकी उस बाढ़में !

[१]

'मेरे जीते जी तुम्हें कौन गोली मार सकता है अकीला !'

सरदार-बहादुर ऊधमसिंहने कहा और अकीलाको नाव परसे अपने सीनेके सायेमें खींच लिया। अकीलाको लगा कि अब वह अपने बापकी गोदमें है और उसकी हिड़कियाँ बँध गईं।

नावमें अकीला बेगमके ससुर, सास, पति और देवर गोलियोंसे बिंधे पड़े थे। वे क्या पड़े थे, ये उनकी लाशें थीं और यह हरक़त, यह हलचल, ज़िन्दगीका कोई कारनामा न था, देहसे आत्माके विदा होनेकी ही रस्म थी। जेवर और दूसरे क़ीमती सामानके कई ट्रंक भी उन लाशोंके पास ही पड़े थे।

अकीलाने एकबार नावमें झाँका और वह चिल्ला पड़ी—"सरदार साहब ! मैं अब इस दुनियामें रहकर क्या करूँगी ? इन लोगोंसे कहिए कि मेरे सीनेको भी अपनी गोलियोंसे भून दें।"

सरदार-बहादुरने उसे और भी जोरसे अपने साथ चिमटाते हुए कहा—"मेरे जीते जी तुम्हें कौन गोली मार सकता है अकीला !" और उस सामानके साथ वे अकीलाको अपने घर ले आये।

अकीला बेगमके ससुर खान बहादुर हबीबुल्ला खां और सरदार बहादुर ऊधमसिंहके बीच खानदानी दोस्ती थी। दोनोंके बाप भी आपसमें दोस्त थे और बाबा भी। दोनों एक दूसरेके लिए इतनी बार जान अड़ा चुके थे कि दोनोंके बीच अब भेदका बाल कहीं टिक ही न सकता था। दोनों एकसे ही थे। दोनोंकी बहू-बेटियाँ दोनोंसे अपनोंकी तरह ही मिलती-जलती थीं। अकीला बेगमकी शादीमें सरदार बहादुर भी शामिल हुए थे

और वहाँ यह जानना मुश्किल था कि लड़केका बाप खान बहादुर है या सरदार बहादुर !

आज खानबहादुर और उसका खानदान खत्म हो चुके थे और अकीलाको बैठा कर वे कह रहे थे—"मेरी अकीला, तुम होशियार हो, अक्लसे काम लेकर बिगड़ीको बना सकती हो। जो होना था हो गया। बह गई लहर कब दुबारा किनारेसे मिली है, इसलिए पिछली बातोंको एकदम भूल जाओ और आनेवाले दिनोंका नया नक्शा बनाओ।"

पीड़ामें डूबी अकीलाने यह सब सुना। सरदार साहबका स्वर आज उसे कुछ और तरहका लगा, पर उसने बिना धरतीसे आँख उठाये हुए ही कहा—"जब क़िस्मतने पेंसिल ही छीन ली, तो अब जिन्दगीका नया नक्शा क्या बनेगा सरदार साहब ! जिन्दगीकी गाड़ीको आगे खींचनेकी ताक़त मुझमें नहीं है। अब तो आपके हाथों इज्जतके साथ मेरी मिट्टी ठिकाने लग जाय यही नक्शा है।"

ऊधमसिंहने उसे और भी अपने पास खींच लिया और बोले—"जो गया है, उसे पा नहीं सकता, पर जो पास बच गया है, उसे भी खो देनेकी बात सोचना कोई अक्लमन्दी नहीं है। फिर तुम्हारा बिगड़ा ही क्या है ? मेरा सब कुछ तुम्हारे क़दमोंमें हाज़िर है।" बात पूरी करते ही उन्होंने अपना हाथ अकीलाके कन्धेपर रख दिया। अकीलाने महसूस किया कि वे काँप रहे हैं। उसने उनकी तरफ़ देखा, तो आज उसे उनकी आँखोंमें एक लपलपाती लालसा दिखाई दी।

अपनेको सम्भालकर अकीलाने कहा—"आज आपको हो क्या गया है सरदार साहब !"

"आज नहीं अकीला, मुझे तो जो होना था, उसी दिन हो गया था, जब पहली बार तुम्हें मैंने खान बहादुरके ड्राइंग रूममें देखा था। तुम नहीं जान सकती कि मैंने इतने दिन किस बेचैनीमें बिताये हैं !" सरदार

साहबने कहा और वे उसके और भी पास होते हुए बोले—"अब सब कुछ तुम्हारे ही हाथ है अकीला !"

अकीलाने उनका हाथ अपने कन्धेसे नीचे रखते हुए कहा—"आपने यह कहकर हमेशाके लिए एक बोझ मेरे सरसे उतार दिया है सरदार साहब ! मैं सोच रही हूँ कि कैसे आपका शुक्रिया अदा करूँ ?"

सरदार साहबकी आँखें चमक उठीं। ज़रा उभरकर बोले—"मेरे जीते तुम्हें बोझ उठानेकी ज़रूरत नहीं। मैंने कल ही एक नई कोठी खरीदी है—वैल फर्निश्ड अकीला ! तुम उसमें बेगमकी तरह रहोगी। आराम, आरायश और इज्जत तुम्हारे क़दमोंपर लोटेंगे और मैं एक खादिमकी तरह हुक्मों की—"

उनकी बातोंके लच्छेको बीचमें ही तोड़ते हुए अकीलाने कहा—"हाँ, अब मुझे भरोसा हो गया है कि आप मेरी कब्र पर हर हफ्ते एक दिआ ज़रूर जलाया करेंगे।"

सरदार साहबने उत्साहके उभारमें अकीलाको दोनों हाथों अपनेमें दबोच लिया और उनके मुँहसे निकल पड़ा—"मैंने कब्र पर दिआ जलानेको तुम्हें नहीं बचाया अकीला !"

अकीला भड़भड़ाकर खड़ी हो गई—"मेरी जान बचानेमें आपका हाथ है ?"

वे उत्साहमें बह रहे थे, और भी ज़रा बहककर बोले—"बेशक !"

तमककर अकीलाने कहा—"तो उनके मारनेमें भी आपका हाथ है ही !" ऊधमसिंह उलझ गये थे-अपने ही फेंके जालमें, पर सुलझते हुए उन्होंने कहा—"अकीला, तुम्हें तो मालूम है कि मेरे और खान बहादुरके ताल्लुकात कितने गहरे और पुराने थे !"

अकीलाने जाने क्या सुना; क्या नहीं, पर वह बिना पल भर रुके, अपने कमरेमें चली गई।

[२]

"क्या यह सच है ? क्या यह भी मुमकिन है ?" अकीलाने अपने तकियेमें मुँह दिये ही सोचा और वह हुबक पड़ी। उसे याद आ गये अपने ससुरके पास बैठे हुए सरदार ऊधमसिंह। देशकी आज़ादी और देशका बँटवारा; दोनोंको हाथमें लिये १५ अगस्त १९४७ आया और स्वतंत्रता-समारोहके साथ ही खून-खराबा आरम्भ हुआ। एक दिन सरदार साहब हमारे घर आये और मेरे ससुरसे बोले—"हालात बहुत नाज़ुक हो चले हैं और कब क्या हो जाय, कहा नहीं जा सकता। सोचते हुए भी मेरा कलेजा फटता है, पर अब कोई और रास्ता मुझे नहीं सूझता कि बाल-बच्चोंके साथ आप पाकिस्तान चले जायँ।"

उन्होंने गम्भीर होकर कहा—"मुझे तो ऐसा लगता है कि यह तूफ़ाने बदतमीज़ी है और चार दिन इसे मज़बूत हाथोंसे थामा जाय, तो यह रुक जायगा। फिर हम कभी लीगमें शामिल नहीं हुए, रामलीलामें हम उन दिनों भी हिस्सा लेते रहे, जब बेवकूफ़ मुसलमानोंने मस्जिदके सामने बाजा न बजानेका अन्धेर मचा रक्खा था, इसलिए मुझे अपने लिए तो कोई खतरा नज़र नहीं आता। वैसे भी मेरे पास बन्दूक है, राइफल है, रिवाल्वर है। मेरी कोठीकी तरफ़ कोई तिरछी आँख देखेगा, तो उधेड़कर रख दूँगा।"

मेरे ससुर बेफ़िक्र थे, तो सरदार साहब बेचैन और अन्तमें उन्होंने कहा—"खानबहादुर, आपकी बात ठीक है, पर आज दोनों तरफ़के आदमी भूखे भेड़िये हो गये हैं। शुरुआत उधरसे हुई है और उसकी क़ापी इधर की जा रही है। अभी-अभी जो शरणार्थी उधरसे आये हैं, वे कहते हैं कि वहाँ नंगी औरतोंका जलूस निकाला गया है। अब यहाँ भी उसकी तैयारी है और इस सिलसिलेमें, मुझे कहते शर्म आती है कि बार-बार अकीलाका नाम लिया जा रहा है। ऐसा कुछ हो गया, तो मैं खुद मिट्टीका तेल छिड़ककर अपनी कोठीमें आग लगा लूँगा"

सुना तो ससुर साहब काँप उठे और तै हुआ कि सरदार साहब अपने आदमियोंकी देख-रेखमें सबको सामानके साथ नदी पार कराके दूरके एक छोटे स्टेशनसे गाड़ीमें चढ़ा देंगे। हम लोग सुबह चार बजे नावपर चढ़े और पानीके बीचमें उन पहरेदारोंने ही सारे खानदानको गोलियों से भून दिया।

तो क्या यह सब मेरे लिए हुआ ? सरदार साहबने मुझे पानेके लिए ही यह पूरा मायाजाल रचा ?—तो क्या इन्सान इस हद तक भी गिर सकता है ?

अकीला सोचती और सोचती ही रही। तभी उसके कानोंमें पड़े किसीके ये कड़खते बोल—"सरदार साहब ! आपके घरमें लाखोंका माल आ गया और ऐसी हूर-परी, जिसका कोई जोड़ नहीं; फिर भी आप हमारा इनाम पाँच हज़ारसे चार हज़ार कर रहे हैं। हमने फाँसीका फन्दा गलेमें डालकर आपका काम किया है। आखिर हमारा क़सूर क्या है ?"

अकीलाने उठकर खिड़कीके शीशेसे झाँका तो सरदार साहबके सामने वही आदमी खड़ा था, जिसने नावमें गोलियाँ चलाई थीं और उसे वे एक हज़ारके नोट और दे रहे थे। अब सब कुछ उसके सामने साफ़ था !

वह आदमी उनके कमरेसे बाहर हुआ कि अकीला तेज़ीसे उनके सामने आ खड़ी हुई। कड़ककर उसने कहा—"अकीला, तुम्हें तो मालूम है कि मेरे और खानबहादुरके ताल्लुक़ात कितने गहरे और पुराने थे ! जी हाँ, मुझे अब यह भी मालूम हो गया है कि आपने उनकी दौलत हड़प ली, उनको तमाम झंझटोंसे निज़ात दिला दी और अब उनके बेटे की दुलहनको अपनी वेश्या बनाना चाहते हैं। सचमुच आपके और उनके ताल्लुक़ात गहरे और पुराने थे !"

बहुत नरम होकर वे बोले—"तुम मुझे ग़लत समझ रही हो अकीला ! यह अब छिपाना बेकार है कि मैंने तुम्हारे प्यारमें अन्धा होकर

अपने दोस्तका घर उजाड़ा, पर यह सरासर ग़लत है कि मैंने उनकी दौलत हड़प ली और तुम्हें मैं अपनी वेश्या बनाना चाहता हूँ। उनकी दौलतमें अपनी भी सारी दौलत मिलाकर मैं तुम्हारे क़दमोंमें रख दूँगा और तुम्हारी ज़िन्दगीको इस तरह ढालूँगा कि तुम सारे मुल्कपर छा जाओ और तवारीख़ तुम्हें याद रक्खे। मेरे इरादोंके साथ ऐसा जुल्म न करो अकीला !"

अकीला भभक उठी—"सरदार साहब, यह सारी दौलत आप मेरे क़दमोंमें क्यों रखेंगे, यह आपको रास्तेमें यों ही पड़ी तो नहीं मिल गई। इसे तो आपने अपनी सारी अक्ल और हिम्मतसे इकट्ठा किया है। इसके लिए तो आप ऐसा इन्तज़ाम कीजिये कि यह मरनेके बाद भी आपके साथ जा सके।

और मैं ? मेरी फ़िक्र आप न कीजिये, मेरी जगह न आपकी गोदमें है, न तवारीख़-इतिहासमें, वह तो कब्रमें है, जहाँ मैं अब जल्दी ही पहुँच जाऊँगी।"

ऊधमसिंह गिड़गिड़ा उठे—"मुझे और अपनेको एक साथ बर्बाद मत करो अकीला !"

"बर्बाद ?" अकीलाके होटोंपर हँसीकी एक रेखा खेल गई—"मैं तो आपको और अपनेको बर्बादीसे बचानेका ही नक़शा बना रही हूँ मेरे बुजुर्ग !"

"मैंने तुम्हें कब्रमें सुलानेको यह सब नहीं किया अकीला ! अक्लसे काम लो और बदक़िस्मतीको ख़ुशक़िस्मतीमें बदल लो। मैं तुम्हें नये ज़मानेकी नूरजहाँ बनाना चाहता हूँ मेरी रानी !" ऊधमसिंहने अपनेको साधकर कहा।

अकीला तीखी हो उठी—"बेहया कुत्ते ! मैं नूरजहाँ जैसी बेग़ैरत नहीं हूँ कि अपने जीवनसाथीको क़त्ल करनेवालेकी गोदमें इठलानेके सपने देखूँ और हुकूमत-इज़्ज़तके नशेमें औरतकी ख़ानदानी ग़ैरतको भूल

जाऊँ। मेरे भीतर एक पठान बापका ख़ून है, मैं तवारीख़—इतिहासमें नहीं, इन्सानियतके रजिस्टरमें अपना नाम लिखाना पसन्द करती हूँ !"

और अकीला तेज़ीसे फिर अपने कमरेमें चली गई।

[३]

दूसरे दिन एक जोशीली भीड़ सरदार साहबकी ऊँची कोठीके सामने खड़ी नारे लगा रही थी–हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद। सरदारने अकीलासे कहा–"अब भी मान जा अकीला, क्यों अपनेको बेइज्ज़त कराती है ?"

"इज्ज़तका नाम मत ले शैतान, एक ग़ैरतदार औरतके लिए अपने साथीके हत्यारेकी वासनाका खिलौना बननेसे धर्मान्ध भेड़ियोंका शिकार बनना कहीं अच्छा है !"

और अकीला खुद झपटकर दरवाज़ेके बाहर आ गई। उसके रूप, यौवन और शालीनताकी चमकसे एक बार तो लोग स्तब्ध रह गये, पर फिर उनका शैतान जाग उठा और एक मिली-जुली आवाज़ गूँजी—हवनकुण्ड !

ऊधमसिंह उसके पास खड़ा था। उसने कहा–"अकीला, अब भी ज़िद छोड़ दे। मेरे साथ शादीका वादा करनेपर मैं तुझे बचा लूँगा, वरना नंगी करके तेरा जुलूस निकाला जायगा और तुझे हवनकुण्डमें झांक दिया जायगा !"

अकीलाके भाव-भरे होठों पर फिर बिजली नाच उठी। उसने कहा—"तो क्या आपकी रायमें मैं इस वक्त़ कपड़े पहने हुए हूँ और ज़िन्दा हूँ ? अपनी आँखोंका इलाज कराइए ! मैं इन्सानियतकी, ग़ैरतकी, हयाकी, मज़हबकी साँस लेती लाश हूँ। मेरा नंगा होना क्या, मेरा जीना-मरना क्या ?"

"नंगी कर दो इसे।" भीड़ने हुंकार की और कई हाथोंने उसके कपड़े तार-तार कर दिये। आगे-पीछे भीड़, बीचमें अकीला ! इन्हीं सड़कों

पर पहले भी एक दिन बाजे-गाजेके साथ अकीलाका जुलूस निकला था, जब वह डोलेमें बैठी दुलहन बनकर आई थी।

और यह सामने ही तो है हवनकुण्ड ! एक कुवाँ-सा गड्ढा-लकड़ीके कुन्दोंसे भरा हुआ, दहकती आगसे चमचमाता और भयानक ! उसके चारों ओर भीड़ और किनारे पर अकीला ! आग-सी चमकदार, स्वस्थ, कुन्दन-देह, बाल बिखरे और आँखोंमें पथराई भावनाएँ !"

भीड़; आसुरी जोशसे भरी, उभर-उछलती। भीड़के नेताने उससे कहा—"बोल, हिन्दुस्तान ज़िन्दाबाद ?"

अकीलाने पूछा—"एक हिन्दुस्तान वह था, जिसमें एक औरतकी इज्ज़तके लिए लंका फूँकी गई, एक हिन्दुस्तान वह था, जिसमें एक औरतके लिए महाभारत लड़ा गया और एक हिन्दुस्तान यह है, जिसमें एक नंगी औरत हज़ारों मर्दोंके बीच खड़ी की गई है और हरेक उससे छेड़ करनेको, उसे शराबकी एक घूँटकी तरह पी जानेको बेचैन है। बताओ मेरे भाइयो ! मैं कौनसे हिन्दुस्तानको ज़िन्दाबाद कहूँ ?"

और अकीला खुद उस हवनकुण्डमें कूद पड़ी।

भारतमाता जीतेजी जल रही थी और उसके पुत्र भारतमाताकी जय बोल रहे थे !

झूठके उस कड़वे धुएँमें !

[१]

बचपनमें जिस विद्यालयमें मैं पढ़ता था, उसके ठीक सामने ही था विशाल तालाब—देवीकुण्ड ! आज तो इंच-इंच जानता हूँ कि उसमें कहाँ कितना पानी है, पर उन दिनों तो मेरे लिए उसके पानीका परिमाण था—हाथी-डुबान !

पिताजीने एक दिन कहा था—"देखो बेटा, देवीकुण्डमें हाथी-डुबान पानी है, उसमें कभी न घुसना !" पिताजीसे सुना था कि मेरे बड़े भाई नहरमें डूब गये थे; सो उनका मुझे समझाना सही ही था, पर मैं देखता कि और लोगोंके साथ मेरे साथी भी उस हाथी-डुबान पानी पर तैरते हैं, किलकारियाँ करते हैं और तालाबके बीचों-बीच खिले कमल तोड़कर लाते और कमलगट्टे तोड़कर खाते हैं।

मेरा भी जी मचलता, ललचता और इस तरह मेरी नसें मसमसातीं कि मारूँ छलांग, पर मेरे गुरुजी जो सामने बैठे रहते। संयोगवश एक दिन वे गये कहीं दावतमें और मौक़ा देख मैं घुसा देवीकुण्डमें। हाँ, किनारे ही किनारे; बस यों ही कोई दो-तीन पैड़ी, पर उतने ही उतारमें मुझे समुद्रका आनन्द आ गया और जी उमँगा कि लगाऊँ एक छोटी-सी तैरी—हाँ, किनारे ही किनारे और मैं तैरता तो क्या भला, छपछपाने लगा !

अभी मैं रसमें आ ही रहा था कि बड़े कछुवेने मुझे छू दिया और बस मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम ! मैं हबकाया-सा उछल पड़ा पर उछलकर फिर अपनी जगह, पैर रख लेना तो खिलाड़ीका काम है—मेरे पैर उखड़ गये और पैर उखड़े कि आदमी गया। मैं भी बस गया ही गया और लगा डबकी खाने।

घबराहटमें आदमी लम्बे साँस लेता है, पर मैं लम्बे तो लम्बे, नन्हें साँसों भी मजबूर; साँस है—हवा खींचना और मैं पानीके भीतर। अब साँस लूँ, तो मरा, न लूँ, तो घुटा और इस मुसीबतके साथ मेरे भीतर यह ज्ञान कि मैं मर रहा हूँ। मेरी चेतनामें मेरी मृत्यु और छाती-पीटती मेरी मा और गुम-सुम मेरे पिता, पर तभी मेरे पैरोंके नीचे जाने कैसे आ गई फिर पैड़ी और मेरे पैर टिक गये। पैर टिके कि आदमी सँभला और सँभला, तो बस सँभला !

इस पैर उखड़ने और सम्भलनेमें लगा होगा मुश्किलसे एक मिनट ! हाँ, एक मिनट, जो पलक मारते निकल जाता है यों, पर इस मिनट में जाने उस दिन कितनी दुनिया मैं घूम गया। वह दमघोटनी घटना जीवनमें जब-जब मुझे याद आती है, मुझे याद आ जाते हैं—जोसफ डेविड कनिंघम, जिन्हें मैं 'इतिहासोंके इतिहासका शहीद' कहकर अपनी क़लमको सदा ही गर्दोगुबारसे बचाये रखनेकी प्रेरणा पाता रहा हूँ।

[२]

उन्नीसवीं सदी जब अपनी बारहवीं वर्षगाँठ मना रही थी, वे इंगलैंड में कहीं जन्मे। आदतें अक्खड़, दिमाग़ घुमक्कड़ और स्वभाव साहसी; यह है उनके बचपनकी एक धूपछाँही तस्वीर। जवानीने उनके जीवनकी खिड़कीसे झाँका, तो यह तस्वीर ज़रा निखरी और वे इरादोंकी बुलन्दी पर दिखाई दिये। इंगलैंडके लिए तब भारतके दरवाज़े खुल चुके थे और वहाँका साहस तब अपने फैलावके लिए इधर ही झाँकनेका आदी हो चला था।

कनिंघमने भी इधर ताका, तो उनकी घुमक्कड़ी, इरादे और हिम्मत तीनों उभर उठे और यह लो, सन् १८३४ में वे आ पहुँचे भारत। कनिंघम एक बाईस वर्षका नौजवान; जिसका दिल-दिमाग़ ऊँची उड़ानों-से भरा-पूरा ! ये वे दिन; जब भारतमें इंगलैंडके उजड्डोंकी धूम थी। वे आते, फौजमें भरती होते, गुण्डागर्दी मचाते और तीसमार खां मशहूर हो

जाते, पर कनिंघम यहाँ तीसमार खाँ होनेको नहीं, कुछ और ही बननेको आया था। वह दूकानदार न था कि जो खपा, ले धरा; वह तो एक झरना था, जिसे अपनी ही राह बहना था—भले ही राह देरमें मिले।

१८३४ से १८३७—पूरे तीन साल कनिंघमको अपनी राह बनानेमें लगे, पर वह निराश न हुआ, जुटा रहा; वह घुमक्कड़ साधक था, कोई आवारा छैल नहीं। अब वह कर्नल वेडका सहकारी, जो सिख-सीमापर गवर्नर जनरलके एजेण्ट और इस तरह पचीस वर्षकी अवस्थामें कनिंघमने भारतकी शासकीय राजनीतिमें पहला क़दम रक्खा।

[२]

पंजाब-केशरी महाराजा रणजीतसिंहसे १८३८ में लार्ड आकलैंड मिले, तो कनिंघम भी साथ थे और प्रथम सिख-युद्धमें भी वे स्वयं उपस्थित रहे। इस तरह सिख-अंग्रेज़ सम्बन्धोंके, दूसरे शब्दोंमें सिखोंके तात्कालिक इतिहासके वे प्रत्यक्षद्रष्टा साक्षी थे। वे उनमें न थे, जो इतिहासको पढ़कर जानते हैं। वे उनमें थे, इतिहास जिनकी आँखोंके सामनेसे स्वयं गुजरता है। फिर उस समयकी सारी दस्तावेज़ें पढ़नेका उन्हें अवसर मिला था और इस तरह हर छिपा रहस्य भी उनके सामने खुली बात थी।

अपने पदके कारण वे बड़े आदमियों और बड़ी गुत्थियोंके बीच थे, तो अपने स्वभावके कारण वे सर्वसाधारणके साथ थे और इस तरह वे आसमानके साथ ही बातें न करते थे, धरतीकी भी सुनते थे!

आठ वर्ष वे फ़ीरोज़पुरमें रहे! तब बहावलपुरमें एजेण्ट हुए और इसी तरहके कई दूसरे पदोंपर काम करते हुए अन्तमें भूपाल राज्यकी पोलिटिकल एजेन्सीमें पहुँच गये।

अब वे संघर्षमें नहीं शान्तिमें थे, पर कर्मठोंके लिए शान्ति, नये कर्मका निमन्त्रण है। कनिंघमके हाथ-पैरोंसे अधिक उनका दिमाग़ उन्हें पुकार रहा था—'कुछ करो न अब?'

भीतरकी इस पुकारको बाहरसे एक उपहार मिला कि कनिंघमके बड़ोंने कहा कि वे सिखोंका इतिहास लिखें। 'रोनेको जी चाहता था, घिसर पड़ी !' कनिंघमकी पिण्डलियाँ मचमचा रही थीं कि राहने उन्हें पुकारा और राह भी मनपसन्द। अब वे इतिहास-द्रष्टासे इतिहास-स्रष्टा होने जा रहे थे। उनका मन उस शर्बतसे भरा था, जिसका स्वाद सिर्फ़ निर्माताओंकी जीभ ही जानती है। राइफलें अपनी कृतियोंको स्थायी बनानेके लिए क़लमके द्वार भिखारिणी थीं इस समय !

कनिंघमको भीड़में रले, अजाने साथी न खोजने थे। सामने घूम रहे परिचितोंको पुकार भर लेना था। इतिहास उनके सामने ही था कि वे उसे लिख लें और वे लिखने लगे। कोई उलझन न थी, वे तेज़ीसे बढ़ चले कि पहुँच गये और यह हो गया तैयार—सिखोंका इतिहास ! गोते-मारको जैसे मोती मिले, माँने जैसे बेटा जना और किसानोंने जैसे खेती काट ली। कनिंघम अब खुशीसे भरे और ऊँचे भविष्यकी उम्मीदोंसे लबालब !

[४]

शादीकी शहनाइयोंके बीच कभी-कभी मृत्युका समाचार भी आया करता है, जो आँधीकी तरह खुशियोंके बगीचेको पलक मारते झकझोर मारता है।

कनिंघमके साथ भी यही हुआ। उनका इतिहास उनके बड़ोंकी मेज़ पर क्या पहुँचा, एक भूकम्प आ गया। उन्होंने उमंगोंसे भरे और आँखोंको पूरी तरह खोले, जो इतिहासके पन्ने उलटे, तो अपनी तारीफ़ोंके अम्बार देखनेको ही तो; पर उसमें उन्हें क्या दीखा ? उसमें दिखाई दिये उन्हें अपनी बेइमानियोंके जनाज़े, चालाकियोंके चक्कर और उनके दुश्मनोंकी वीरताके स्मारक !

वे शिखर पर चढ़ते-चढ़ते खाइयोंमें जा गिरे। गिरकर कमज़ोर

रोता है और ताक़तवर गरजता है ! वे कनिंघमके बड़े थे, कनिंघम उनका मातहत था। कनिंघमको वे कुचल सकते थे और यों ताकतवर थे। गवर्नर जनरल मार्क्विस आफ डलहाउज़ीने उन्हें नौकरीसे अलग कर दिया और उन्हें जातिद्रोही कह, लांछित भी किया !!!

जब वीणाकी झंकार कानोंमें रस बरसाने को हो और अचानक उनपर आ पड़े नगारेकी चोट, तो नसोंमें एक खास खलबली-सी मच जाती है। कनिंघमका भी अब यही हाल था। उसे प्रशंसाकी जगह नृशंसा और उपहारकी जगह दुत्कार मिल रही थी।

मुश्किलसे अपनेको सँभालकर कनिंघमने अपना इतिहास फिर पढ़ा—अपनी पुस्तककी तरह नहीं, एक क्रूर समालोचककी तरह और उस समय उसमें तनाव इतना कि वह बैठ न पाया और अपनी खिड़कीपर पोथी धरे खड़ा ही रहा। उसे होश न था, वह अपने आपेमें ही न था, तो थकानकी शिकायत पैर किससे करते ?

पुस्तक पढ़ी, तो उसमें फिरसे एक नया जोश आया और बालककी तरह अत्यन्त कोमलतासे अपनी पुस्तकको थपथपाकर उसने कहा—"इसमें तो एक भी बात ऐसी नहीं, जिसके लिए विद्वान् जजोंकी सभामें मैं अकाट्य प्रमाण न दे सकूँ !"

उसके किसी अपनेने कहा—"तुम्हारी पुस्तकमें कोई ग़लत बात नहीं है कनिंघम, पर इससे हमारी जाति कलंकित होती है !"

"ओह, यह बात है"—उसने सोचा—"मेरी जाति अपनी नीचताओंसे कलंकित नहीं होती, उन नीचताओंको प्रकट करनेसे कलंकित होती है और इसलिए उसकी नज़रोंमें इतिहासका काम आजके सत्यको ज्योंका त्यों कलकी पीढ़ियोंको सौंपना नहीं, आजकी कालिमाको शृंगारका स्वरूप देना ही है !"

कनिंघमने यह सोचा और एक तूफ़ानी धक्का-सा उनके हृदयमें लगा। उस दिन देवीकुण्डमें जिस तरह मुझे साँस लेना असम्भव हो गया

था, आज उन्हें हो गया। वे अपने पलंगपर बैठ गये। हाँ, सचमुच बैठे नहीं वे—बस बैठ ही गये। अब पलंगपर वे नहीं, उनकी लाश थी। उन दिनों १८४९ का सन् अपनी विदाईकी तैयारियाँ कर रहा था और बेचारे कनिंघमकी भूरी आँखोंने तो अभी ३७ वसन्त ही देखे थे !

[५]

अभी उस दिन कनिंघमसे बातें करनेका मौक़ा मिल गया मुझे। वे मेरी कल्पनाके आँगनमें अपने पलंगपर पड़े थे। उनका इतिहास उनकी छातीपर था, उनके दोनों पंजे, उस इतिहासकी जिल्दपर और वे टकटकी लगाये, उसे अपनी अन-झपकी आँखोंसे देख रहे थे; जैसे कोई स्टैच्यू हों !

मैंने कहा—"कनिंघम भाई, तुम नौकरीसे क्या अलग हुए, हमसे—जीवनसे ही अलग हो गये; यह तो कोई हिम्मतकी बात न हुई ? बहादुरीका इतिहास लिखने वालेको तो अपनेमें बहादुर होना चाहिए !"

कनिंघमने बिना आँखें झपके और बिना सिर हिलाये, दर्दभरे स्वरमें कहा—"तो क्या मेरे दोस्त, मैं नौकरी छूटनेसे ही दुनिया छोड़ आया ? मेरे भोले भाई, उस नौकरीने मुझे नहीं, मैंने ही उस नौकरीको बनाया था और मैं चाहता, तो वैसी दस नौकरियाँ फिर बना सकता था।"

"तो फिर असली बात क्या थी मेरे साथी कि जिससे यह अनहोनी हुई ?" मैंने बहुत ही मुलायम और मीठे होकर पूछा।

कनिंघमने कहा—"वाणी आज की शक्ति है और क़लम कलकी माँ; जो आजकी भूलों और भलाइयोंका पिटारा कलकी पीढ़ियोंको भेंट करती है कि वे अपने आपमें भूलोंसे भटकें नहीं और भलाइयोंसे भरपूर हों !"

कनिंघमने एक गहरी साँस ली और बहुत गहराइयो तक भींगे-भींगेसे होकर बोले—"मैंने अपने इतिहासमें यही तो किया था, पर मेरी जातिने उसे पसन्द न किया, तो उसके यही माने हुए कि आजके माँ-बाप अपने

कलके बच्चोंको जान-बूझकर और एक संगठित योजनाके साथ धोखा देनेको कमर कस उठे !"

कनिंघमकी स्टैच्यू-सी देहमें एक कपकपी-सी आ गई और बहुत ही निर्जीवसे होकर वे बोले-"ओह, इसका और क्या अर्थ कि हमारे बच्चो, हम तो गिरे ही, तुम भी गिरते रहना, हम तो उठ न पाये, पर तुम भी न उठना; तो हमारी क़लम बस पीतलपर सोनेका मुलम्मा करनेवाली ब्रश है, सचाइयोंकी मूर्तियाँ गढ़नेवाली छेनी नहीं !

और यह सब मैंने सोचा, तो मेरी आत्माके चारों ओर एक कड़वा धुवाँ भर गया। यह धुवाँ इतना घना था कि साँस लेना मेरे लिए असम्भव हो गया और मेरा दम घुट गया ?"

मैंने देखा—कनिंघम अब भी ज्योंके त्यों पड़े थे। उनका इतिहास उनकी छातीपर था, उनके दोनों पंजे उस इतिहासकी जिल्द पर और वे टकटकी लगाये, उसे अपनी अनझपकी आँखोंसे देख रहे थे; जैसे कोई स्टैचू हो !

रेलके पहियोंकी घड़घड़ाहटमें !

उसका नाम था मोती और जाति श्वान, पर उसकी सुन्दर मनभावन मूर्ति एवं प्रेम-पूर्ण व्यवहारने उसे मेरे गृहस्थकी शिशु-समितिका एक सदस्य बना दिया था—सब उसे अपने बच्चोंकी तरह प्यार करते थे। वह वृद्धोंका कृपा-पात्र, युवकोंका मित्र एवं शिशुओंका सहचर था। सभी उसे हृदयसे चाहते थे और सबको वह।

उसे इस घरमें लानेका श्रेय मुझे प्राप्त था, इसलिए उसके प्रति मेरा आकर्षण अपेक्षाकृत अधिक था और मोती तो मुझपर जान ही देता था। उसके इस घरमें आनेका भी एक इतिहास है—मनोरञ्जक और उल्लेखनीय। उसका जन्म नगरके एक दूसरे कोनेमें हुआ था—एक सुन्दरी मनस्विनी माताके गर्भसे! मैं प्रातः उसी रास्ते विद्यालय जाया करता था—प्रतिदिन मैं उसे देखा करता, खान हिदायत-उल्लाके विशाल द्वारपर अपनी माँके साथ वह बैठा रहता। मनमें कोई भाव न था—बस इतना ही कि 'अच्छा होनहार कुत्ता है'।

मोतीकी अवस्था उन दिनों तीन-चार मास रही होगी, पर एक दिनकी आकस्मिक घटनाने उसे खान साहबके द्वारसे बलात् उठाकर मेरे हृदयके अन्तःप्रदेशमें अभिषिक्त कर दिया। रविवारका दिन था, प्रातःकालका समय। मैं अपने छोटे पुत्रको गोदमें लिये उसी ओर घूमने जा रहा था। खान साहबके मकानके सामने अचानक मेरा पैर फिसला और सम्भालने पर भी लल्लू गोदसे दूर जा गिरा।

मोतीने अपने आसनपर बैठे-बैठे लल्लूका गिरना देखा, उसका रोना सुनकर उसका भ्रातृ-प्रेम उमड़ पड़ा। वह उछलकर लल्लूके पास आया, उसे सूँघा और सान्त्वनाकी मनोहारी मुद्रामें उसके साथ खिलार

करने लगा। मानो कह रहा था—"उठो, रोओ मत, तुमने चींटीका बच्चा मार दिया है, उसकी माँ तुम्हें पीटेगी, जल्दी करो, वह आ रही है"।

मैंने लल्लूको चुमकार कर गोदमें ले लिया। मोतीने आँखमें हृदयकी सारी अतृप्त आकाङ्क्षा भरकर उसकी ओर देखा, दुम हिलाई—भों-भों-भों! मानो कह रहा था, "लल्लू अब तुम्हारी-मेरी मित्रता हो गई है, मुझे भूल न जाना। कभी फिर भी दर्शन देना"।

दूसरे दिन जब मैं वहाँ पहुँचा, वह उछल कर मेरे पैरोंसे आ लिपटा, दुम हिलाने लगा, उसके चेहरेसे अपने मित्र लल्लूके दर्शनोंकी उत्कट उत्कण्ठा झलक रही थी, जिसका अर्थ था—"मेरे प्यारे मित्रको कहाँ छोड़ आये?" उसकी यह दैनिक दिनचर्या हो गई। मुझे कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि मोती मेरे आनेके समयकी प्रतीक्षा किया करता है।

एक दिन सायंकालके समय मैं घूमकर उधरसे आ रहा था। अन्धेरा हो चला था, दीप जल चुके थे। मोतीने मुझे देखा, तो उछलकर मेरे पास आ पहुँचा, दुम हिलाकर खिलार करने लगा। मुझे घर पहुँचनेकी जल्दी थी, मैंने उसे चुमकार कर हटाना चाहा, पर वह हटता ही न था। अपने आगेके दोनों पैर उसने उठाकर मेरे घुटनों पर रक्खे और खड़ा होकर दुम हिलाने लगा; जैसे कोई सुकुमार शिशु अपने पिताकी गोदमें चढ़नेको उतावला हो रहा हो।

मैंने एक बार उसकी तरफ़ देखा और उसे गोदमें उठा लिया। सोचा, रास्तेमें थोड़ी दूर पर उतार दूँगा, चला आयेगा, पर मोती इसके लिए तैयार न था, वह मेरी गोदमें चिमटा-सा जा रहा था; जैसे उसमें छिप जाना चाहता हो। उसकी दशा इस समय उस पथिक-जैसी थी, जिसे जंगलमें अचानक मोहरोंका एक घड़ा मिल जाय, वह खुश होकर उसे उठा ले, गोदमें छुपाकर घरकी ओर दौड़े, पर मार्गमें चोरों द्वारा उसके छिन जानेका आतुरभय निरन्तर बना रहे।

उसकी यह दशा देखकर उसे गोदसे उतारनेका मुझे साहस न हुआ!

गोदमें लिये-लिये घर आ पहुँचा। मोती लल्लूको देखते ही बेचैन हो उठा—उसका रोआँ-रोआँ खिल गया। गोदसे उछलकर वह लल्लूके पास जा पहुँचा। कभी उसे सूँघता, कभी उसके तलवे चाटता। उसकी सम्पूर्ण देह प्रेमके मधुर आवेगमें, पवन-परिचालित वन-वल्लरीकी भाँति काँप रही थी। उसे इस समय विश्वकी कुछ सुध-बुध न थी, उसका बिछुड़ा बालसखा बहुत दिनोंके बाद आज उसे मिल गया था।

बिछुड़े हुए मित्रका मिलन, स्वर्गीय स्रोतस्विनीकी विमल प्रवाह-धारा है। इसका पुण्य-स्पर्श विरहकी ताप-ज्वाल-मालासे मूर्छित दो सुकुमार हृदय-वल्लरियोंको पुनः नवजीवन प्रदान कर विश्वमें सरसताका संचार कर देता है। प्रेम-प्रसून खिल उठते हैं, पवन निष्काम देव-दूतकी भाँति अपने आँचलमें उस सुरभिका संकलन कर उसे विश्वमें बखेर देता है, द्वेषकी दुर्गन्धसे दूषित विश्वका तामसी हृदय-प्रदेश सुरभित हो उठता है। मित्र-मिलन सौभाग्यकी चरमसीमा है।

दूसरे दिन विद्यालय जाते समय मैंने उसे ले जानेका प्रयत्न किया, पर मोती इसके लिए तैयार न था। वह दौड़कर लल्लूकी गोदमें जा छिपा। वियोग-भयकी कायरता उसकी आँखोंमें तरल हो, बह रही थी। लल्लू भी उसे भेजनेमें सहमत न था।

घरमें मोतीकी आवश्यकता अब सिद्ध हो चुकी थी।

जो वस्तु हमारे पास नहीं है, हम उसकी उपयोगिता-आवश्यकताका यथार्थ अनुभव नहीं कर पाते; कभी-कभी औरोंको उसका उपयोग करते देख उसकी व्यर्थताका रोना रोने एवं समयकी प्रगतिका बेसुरा राग अलापनेमें भी हम संकोच नहीं करते, पर जब वह वस्तु स्वयं हमें प्राप्त हो जाती है, तो हम उसकी यथार्थ उपयोगिता-आवश्यकताका अनुभव करते हैं। इस अनुभवके बाद वह वस्तु हमारे लिए भी आवश्यक हो जाती है और हम उसका त्याग करनेमें कष्टका अनुभव करते हैं।

विश्व-बाजारके विकासका यही संक्षिप्त इतिहास है !

इस घटनाके दो वर्ष बाद—

मोती अब युवक हो गया था। शैशवकी सरलताके स्थानमें यौवनकी गम्भीरता विलास करने लगी थी। उसका रंग अब पहलेकी अपेक्षा निखर गया था। कृष्ण वर्ण, उन्नत ललाट, उसपर देदीप्यमान शुभ्र तिलक-चिह्न, उठी हुई दुम; भरा हुआ बदन एवं मझरा कद, उसकी सुन्दरताके उपकरण थे। जो देखता, उसकी ओर खिंच जाता; सचमुच उसमें गज़ब का आकर्षण था।

लल्लूकी तबियत इधर कई माससे खराब थी। मैं, लल्लू एवं उसकी माता स्वास्थ्यसुधारके लिए मसूरी जा रहे थे। मोतीको यहीं छोड़ जानेका विचार था। हमने इसकी सूचना उसे नहीं दी थी, पर न जाने कैसे वह यह बात समझ गया था। इधर कई दिनोंसे वह अनमना-सा रहता, भोजन भी भरपेट न करता। उसकी प्रसन्नता भावी वियोगकी कल्पना-ज्वालामें झुलस-सी गई थी। मुझे जानेकी तैयारीमें इधर ध्यान देनेका अवकाश न मिला था, मेरी यह उपेक्षा उसके हृदयको और भी व्यथित कर रही थी।

अन्तमें मसूरी जानेकी तिथि आ गई। हमें प्रातः ६॥ की गाड़ीसे यात्रा करनी थी, सामान बँधकर तैयार हुआ, ताँगा आ गया। मोती आकर मेरे पास खड़ा हो गया। उसका मुँह उतरा हुआ था। मैंने इसे गरमीका अनिवार्य फल समझा, उसकी कमर पर थपकी दी, प्यारसे सिरपर हाथ फेरा—"मोती ! हम जा रहे हैं, अच्छी तरह रहना। दुःखी न होना, हम जल्दी ही लौट आयेंगे !"

मोतीके हृदयकी संचित व्यथा, उसके मुख-मण्डल पर झलक आई। उसने मेरी ओर देखा, आँखोंसे आँसू बह-से रहे थे। व्यथितहृदय विपत्तीके कुलिश-कठोर आघात धीरताके साथ सह सकता है, पर सहानुभूतिका एक हल्का-सा संस्पर्श उसे बलात् द्रवित कर देता है। हम अपना भरा हृदय लिये रुक्षता एवं परताकी रंगभूमिमें प्रसन्नताका अभिनय करते

रहते हैं, पर सहानुभूतिकी एक हल्की-सी थपकी हृदयका बाँध भग्न कर देती है और वह आँसुओंकी भावमयी धाराके रूपमें प्रवाहित होने लगता है। सहानुभूतिमें भी एक आग है, जो हृदयकी व्यथाको पिघला देती है। उसकी कई दिनकी अन्यमनस्कताका अर्थ अब मेरी समझमें आया। मैंने उसे प्यारसे गोदमें ले लिया—"क्यों, दुखी क्यों होते हो मोती?"

उसने एक बार फिर करुणा-पूर्ण दृष्टिसे मेरी ओर देखा और अपना मुँह मेरी गोदमें छिपा लिया। मुझे उसके हृदयकी सम्पूर्ण करुण कथा उसके इस एक ही संकेतने स्पष्ट घोषित कर दी।

हृदयकी भाषा निःशब्द है, पर निराकार नहीं। सम्पूर्णताकी दृष्टिसे तो विश्वकी कोई भाषा इसके साथ प्रतिस्पर्धा कर ही नहीं सकती। मुख-मुद्राएँ, विविध भाव-भंगियाँ ही उस भाषाकी लिपि हैं; जो हृदयके भावोंको सम्पूर्ण सुन्दरताके साथ प्रकाशित करनेमें अपनी उपमा नहीं रखती। जिस भावको प्रकट करनेमें भाषाविद् अपनी अनेक पंक्तियोंका उपयोग करके भी सन्तुष्ट नहीं हो पाता, उसे आँखका एक सूक्ष्म संकेत बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकट कर देता है। भग्न-हृदय से निकले निःश्वासका अर्थ विश्वकी कौन भाषा शब्दोंमें गूँथ सकनेका दावा कर सकती है?

मोतीकी सहृदयता, द्रवित हो मेरी आँखोंमें आ झलकी। मैंने कहा—"मोती! तुम दुखी मत हो। यहाँ नहीं रहना चाहते, तो चलो तुम भी मसूरी चलो!" मोती कूदकर खड़ा हो गया—उसका अभीष्ट उसे मिल गया था। इसी समय मेरी बाईं आँख फरकी। क्या यह किसी भावी अनिष्टकी पूर्वसूचना है? नवीनता हमें शकुनवादके इस मायाजालसे निकालकर वीर हृदय बनाना चाहती है, पर प्राचीन संस्कार इसीमें हमारा कल्याण देखते हैं। समयका प्रवाह नवीनताका पृष्ठपोषक है, पर हृदयका विश्वास संस्कार-बलको क्षीण नहीं होने देता। व्यक्तिगत अनुभूति सन्धिदूत की भाँति दोनोंमें समन्वय करनेका प्रयत्न कर रही है।

* * *

स्टेशन पहुँचे, बाम्बे एक्सप्रेस दूसरी लाइनपर खड़ी थी—मसूरी जानेवाली गाड़ीके आनेमें कुछ मिनटोंकी देर थी—दोनोंका यहीं क्रास होता था।

सामान प्लेटफार्मपर रखा, मैं टिकट लेने चला, मोती लाइन पारकर एक्सप्रेस गाड़ीका निरीक्षण करने लगा।

कौन जानता था यह निरीक्षण मृत्युका भ्रान्ति-भरा आह्वान है। हमारी गाड़ी आई, मैं उसका शब्द सुन जल्दी-जल्दी टिकट-घरसे निकला। दरवाज़ेपर पैर रखते ही मेरा हृदय सन्न हो गया—इंजन अपनी अबाध गतिसे दौड़ा आ रहा था, उसका 'पंखा' किसी कृष्णकाय निशाचरकी भीषण दन्त-पंक्तिकी भाँति आगेको निकला हुआ था और मोती घबराया हुआ लाइन पारकर इधर दौड़ा आ रहा था; जैसे कोई भक्त शैतानके प्रकोपसे बचकर भगवान्‌की शरण जा रहा हो।

इंजनने मोतीको एक टक्कर दी, वह दूर जा गिरा।

मैं विह्वलताके उन्मादी आवेशमें चिल्ला उठा—"मोती! इधर मत आओ, वहीं रहो, ठहरो!!"

मेरी आवाज़ मोतीने सुनी, उसकी मिलन-उत्कण्ठा और भी उग्र हो उठी। उसने देखा—हमारे और उसके बीच एक पहाड़-सा दौड़ा जा रहा है। वियोग उसके लिए असह्य हो उठा, वह पहियोंके मध्यावकाशसे एक ही कुलाँचमें इधर आनेका निश्चयकर फिर दौड़ा। पलभरमें गाड़ीका पहिया उसके ऊपर से उतर गया, देह दो भागोंमें विभक्त हो, तड़फने लगी।

गाड़ी ठहरी, मैं दौड़कर मोतीके पास गया। आँखें बन्द थीं, प्राण जा ही रहे थे। मैंने ज़ोरसे पुकारा—'मोती!' उसकी चेतना अभी अस्त न हुई थी। मोतीने आँखें खोलीं, मुझे सामने देखकर प्रसन्नताकी एक रेखा उसके मुख-मण्डलपर बिखर गई। यह उषाकालिक दीप-शिखाका अन्तिम प्रज्वाल था। वह अपने भग्न शरीरका सारा बल आत्म-बलके

साथ मिलाकर—आगेके दोनों पैरोंके सहारे खड़ा हो गया, हृदयका प्रेम प्रकट करनेके लिए उसने दुम हिलानेका प्रयत्न किया, पर हाय, हृदय-हीन गाड़ीके राक्षसी चक्रने हृदयसे दुमका सम्बन्ध विच्छेद कर दिया था ! मोतीको अब अपनी दशाका ध्यान आया, मृत्यु अपने विकराल रूपमें उसके सामने अट्टहास कर उठी; उसने एक अवर्णनीय भावसे मेरी ओर देखा; मानों कह रहा था–"बाबूजी ! मैं आपसे बिदा हो रहा हूँ, मुझे भूल न जाना !"

प्राण-ज्योति क्षीण हो चली, उसकी वह उन्नत अर्ध देह धराशायी हो, जगकी क्षण-भङ्गुरता उद्घोषित करने लगी ।

मेरा हृदय तड़फ उठा, आँखोंसे आँसुओंकी अजस्र धारा बहने लगी । हाय, मेरे मोतीका यह अन्त ! मैंने मसूरी जाना स्थगित कर दिया ।

* * *

मोतीका शव मैं उठवा लाया और अपने विद्यालयके पास ही उसे दफनाकर, उसकी समाधिपर मैंने मिट्टीमें उँगलीसे लिख दिया–"मोती एक स्वर्गीय सुमन था; सन्तोषकी आलोकमालासे उज्ज्वल एवं स्नेहके सुभग सौरभसे सुरभित । वह प्रेमकी बलिवेदीपर अपना निष्काम, सात्त्विक एवं पवित्र बलिदानकर अपना जीवन धन्य कर गया !"

हवाके झोंकों और वर्षाके थपेड़ोंने इस स्मृति-लेखको कुछ ही दिनों में चाट लिया और अब तो उसकी समाधिके चिह्न भी समाप्त हो गये, पर मोतीकी स्मृति एक मीठी कसकके रूपमें आज भी जीवित है और मैं अक्सर सोचा करता हूँ–बहुतोंसे मैं बिछुड़ा हूँ, बहुतेरे मुझसे बिछुड़े हैं ! बिछोहके आँसू भी मैंने देखे हैं और चोट भी अनुभव की है, पर ऐसा तो जीवनमें सिर्फ मोती ही है, जो बिछोहके आते ही बलि हो गया और जिसने मेरे बिछोहमें जीनेसे साफ़ इनकार कर दिया !

पहाड़की उन चोटियोंसे नीचे !

"बुधारू, बुधारू, अबे हमारे गोरू अभी तक क्यों छानीमें बन्द हैं ? तू तो नवाब है ही, पर वे तेरे बच्चे भी आज कहाँ मर गये, जो कामपर नहीं आये ?"

"ठाकुरा, मेरे बच्चोंकी माँ बीमार है, उसके बचनेकी कोई उम्मीद नहीं।"

सर्दीमें सुकड़ते बुधारूने इतना कहा कि उसका गला रुँध गया और वह ठाकुराके पैरोंपर गिर पड़ा, पर ठाकुराने इधर ध्यान न दिया। उसे अभी अपनी बात पूरी करनी थी। वह उभर कर बोला—"बुधारू, आज तेरे बच्चोंकी माँ बीमार है, कल तेरे बच्चे मरने लगेंगे, भला मैं इसमें क्या करूँ ?"

ग़रीबमें अपमानके पैनेपनकी परख ख़ूब होती है, पर परिस्थितियाँ उसे इस परखको पीना सिखा देती हैं। बुधारू भी अपने बच्चोंके अमंगलकी बात पी गया। उसे अभी अपनी बात पूरी करनी थी।

"ठाकुरा, बरफकी इन आँधियोंमें न पैरोंमें जूती है, न देहपर कपड़ा, पर यह तो रोज़की ही बात है। आज तो घरमें न बच्चोंके खानेको दो टुकड़े हैं, न उस कंकालके लिए दवा !" पैरोंपर पड़े ही पड़े बुधारूने कहा।

ठाकुराका हृदय पिंघला नहीं। घरमें बुनी मोटी ऊनी जुराब और गाँवमें बनी मजबूत जूतीसे सुरक्षित पैरसे बुधारूके मस्तकको हटाते हुए उसने कहा—"मैं तुम्हारी तकलीफ़ोंका ठेकेदार नहीं। मैंने तो अपनी अण्टीका रुपया फेंककर तुम्हें खरीदकर ग़ुलाम बनाया है। इसपर भी तुम्हें खाना

कपड़ा देता हूँ। बदलेमें तुम यह ज़रा-सा काम भी करना नहीं चाहते, तो मुझे ५०० रुपये अदा कर दो !"

बुधारू ठण्डी साँस लेकर उठा और कुछ देर आकाशकी ओर सूनी आँखोंसे देखकर, जानवरोंको धूपमें बाँधने चला गया।

ख़ूराक़ और दवा न मिलनेके कारण बुधारूकी स्त्री मर गई और कुछ दिन बाद बच्चे भी चल बसे।

स्त्री और बच्चोंको गुजरे एक साल बीत गया। बुधारू हमेशाकी तरह अब भी सुबह ही काम पर जुट जाता है। घरका पूरा काम, पहाड़ काटना, खेत बनाना, जानवरोंका चारा-पानी करना, सब कुछ गई रात तक करता रहता है। उसे सालमें एक बार सस्ती जोड़ीका दो जोड़ा कपड़ा पहननेको मिलता है और खानेको सुबह एक मड़वेकी रोटी, एक कठेरी पानी मिला सफेद रंगका मट्ठा। दोपहरको मकीका सत्तू और उबली हुई अरवी। रात गये, फिर दो मड़वेकी रोटियाँ और पानीदार पतली दाल। इसके अलावा कभी बिस्सुके मेलेपर दूसरा अन्न मिल जाये, तो वह उसे ईश्वरकी माया ही समझता है।

बुधारू मशीनकी तरह काम करता रहता है और बुदबुदाता रहता है। उसके दिलकी कसक मुँह पर पड़ी झाइयां और निशानोंसे साफ़ झलकती है। अब उसके जीवनमें अन्धेरा ही अन्धेरा रह गया है और देह उसकी लटक कर कंकाल हो गई है। गयी रात कभी-कभी वह अपने साथी पुनियाके घर आता है। अलावके आगे दोनों एक दूसरेसे पूछते रहते हैं कि हम लोगोंका क्या होगा। न तनपर कपड़ा, न पेटभर अन्न। सुबहसे सन्ध्या तक हम काम करते हैं। ढेरका ढेर ठाकुर नीचेसे सोना ले आता है और हमें यह सस्ती जोड़ी और मड़वेकी रोटी मिलती है। दोनों फिर चुप हो जाते हैं। सिर डाले-डाले सोचते रहते हैं। दोनों बन्द पिंजरेमें पंछीकी तरह फड़फड़ाकर रह जाते हैं, उड़ नहीं पाते।

यों ही कुछ महीने आये–चले गये। एक सवेरे लोगोंने देखा, पुनिया चौतरेपर बैठा है और बुधारू अपनी भाषामें जोर-जोरसे बोल रहा है–

"हम कोल्टे, डूमडे, बाजगी सब इस देशके निवासी हैं। हम ३०० वर्ष पूर्व इस देशके पूर्ण रूपसे मालिक थे। औरंगज़ेबके समयमें नीचेसे लोग भागकर आये। वे चालाक थे। पढ़े-लिखे थे। बहला-फुसलाकर हम सीधे लोगोंसे हमारे खेत, गोरू, मकान उन्होंने सब ले लिये और आश्वासन दिया कि हम तुम्हें खानेको देंगे।

हमारे बड़े इन चालोंको नहीं जानते थे और आज हम पीढ़ी दर पीढ़ी दास हैं। हमने मेहनतसे पहाड़ काटे, गोड़े, खेत बनाये, हमने इनमें पैदा किया और आज हम इस पृथ्वीसे कुछ नहीं ले सकते। हम सुबहसे रात तक काम करते हैं। फिर भी न तन ढाकनेको कपड़ा है और न पेट भर अन्न। हमारे बच्चे मोरीके कीड़ेकी तरह बिलबिलाते रहते हैं। हमारी ये देवियाँ अपने सपनोंमें सब कुछ लेकर, अपना घर छोड़कर, हमारे पास आती हैं और हम इन्हें सब कुछमेंसे "कुछ-कुछ" भी नहीं दे सकते। हम लोगोंने कभी सोचा है ऐसा क्यों है? एक ही ईश्वरके बनाये हुए हम लोग इस तरह असहाय और अपाहिज क्यों हैं? हमारा यह जीवन ऐसा क्यों है?

हम लोग आपसमें मिल न लें, इसलिए ये ठाकुरे हमें न पेटभर खाना देते हैं, न कपड़ा। ये चाहते हैं कि हम अपने कामोंमें ही उलझे रहें और उसी तरह पड़े रहें! हम लोगोंको इस अत्याचारको मिटाना है। चाहे हम लोगोंको कितना ही कष्ट झेलना पड़े। हमें अपने लिए नहीं तो इन छोटे-छोटे बच्चोंके लिए जो कलीकी तरह हैं, जो खिलनेसे पहले ही मुरझा जायेंगे, इनके लिए ही कुछ करना है। हम सभी वीर हैं, साहसी हैं, दृढ़ हैं। हमारी वीरताका, दृढ़ताका नमूना ये बड़े-बड़े खेत हैं, जो

ढेरों सोना उगलते हैं। ऊँचे-ऊँचे मकान हैं जिनमें रंगरेलियां होती हैं और ये ठाकुरा हैं जो हमारे ही बलपर सब कुछ करते हैं और हमें इशारों पर नचाते हैं।"

बुधारूका चेहरा आज लाल हो रहा था। सीना उभर-उभर आ रहा था। उसने अपनी गर्दनको, जिसकी नसें फूली हुई थीं, ऊँचाकर चारों ओर देखा। फिर बोला—"सोचते क्या हो, चुप क्यों हो! क्या तुम लोग सोचते हो कि कुछ न हो सकेगा? ज़िन्दगी न बन सकेगी? लेकिन यह याद रक्खो कि इस तरह बेकार पड़े रहना, कुछ दिन भले ही अच्छा लगे, हमेशाके लिए अच्छा नहीं हो सकता। यह ऐसी चक्की है, जो चलती ही रहेगी और एक दिन वह होगा कि इसमें हमारी हस्ती ही पिस जायेगी। तब क्या करोगे?"

पुनिया चौतरेसे उछलकर उठा। उसने चिल्लाकर लोगोंसे कहा—"बुधारू जो कहता है वह काली माताके आशीर्वादका फल है। हम लोगोंको बुधारूके साथ रहना चाहिए।" लोगोंमें आग तो दबी हुई पड़ी थी, केवल कुरेदनेकी देर थी। लोगोंने देखा कि बुधारू ही अकेला नहीं है, पुनिया भी साथ है। जै काली माता, जै काली माता, करते हुए वे लोग मन्दिरपर पहुँचे और सौगन्ध खाई। गाँवमें एक हलचल मच गई। ठाकुरा लोग इधरसे आते, उधर निकल जाते। रास्तेमें देखकर न कोई एक किनारे खड़ा होता, न सर झुकाता। ठाकुरोंने देखा कि बात बिगड़ गई है और उसकी जड़ बुधारू और पुनिया हैं।

बुधारू और उसका साथी पुनिया, जिन्होंने भारतके पहाड़ी प्रदेश जौनसार बाबरमें जीवनके नये अध्यायको जन्म दिया, एक अन्धेरी रातमें ठाकुरों द्वारा पहाड़की चोटीसे हाथ-पैर बाँध, नीचे फेंक दिये गये। वे मर गये और पर्वतके जीवजन्तुओंने उनका शव-संस्कार कर दिया, पर उन्होंने जीवनकी जो आग जला दी थी, वह जलती रही और अभी तब

तक जलती रहेगी जब तक इस प्रदेशकी ग़रीब और असहाय जनता मानवताके सम्पूर्ण अधिकार न पा लेगी।

जौनसार बाबरकी अन्धेरी कन्दराओंमें अपनी हड्डियोंकी मशाल जलानेवाले शहीद बुधारू और पुनिया आज भी अबोध जनताकी लोकोक्तियोंमें अमर हैं। पर यह अमरता, क्या भव्य स्मारकोंकी अमरतासे अधिक हार्दिक नहीं है ?

शहादतकी ज़िन्दगीके तूफ़ानमें !

मैंने अपने जीवनमें बहुत कुछ देखा है और बार-बार देखा है, पर किसी नारीमें मैंने कस्तूरबा-जैसा पत्नीत्व, सरोजिनी नायडू-जैसा कवित्व, विजयालक्ष्मी पण्डित-जैसा व्यक्तित्व, रमारानी जैन-जैसा व्यवस्थापकत्व और सत्यवती जैसा वीरत्व नहीं देखा।

दिल्लीके अहिंसात्मक युद्धकी वह सिपहसालार थी और गांधीजी उसकी ज़िन्दगीके सिपहसालार थे—उनके प्रति उसकी आस्था-निष्ठा इतनी गहन-गम्भीर थी कि वह उनके संकेतपर किसी भी क्षण अपने प्राण एक कणकी तरह दे सकती थी। सच तो यह है कि यों कहकर मैं उसका अपमान ही कर रहा हूँ; क्योंकि वह उन सिपाहियोंमें नहीं थी, जो जीवनदानके लिए तैयार होकर युद्धके आंगनमें उतरते हैं, वह तो उनमें थी, जो जीवनदान देकर ही युद्धकी ओर चलते हैं।

मुझे कभी नहीं लगा कि उसका लगाव कहीं भी, किसी अंशमें भी, उसके प्राणोंके साथ है, जीवनके साथ है। गांधीजीकी पताकाके नीचे आनेसे पहले ही वह अपना जीवन देशके लिए समर्पित कर चुकी थी। यही कारण था कि वह सिपहसालार होकर भी सिपाही थी—सेनापतिके दम्भसे दूर और सैनिकके समर्पणसे ओतप्रोत। सचमुच मरणकी शहादत नहीं, शहादतका जीवन ही उसकी ज़िन्दगी थी।

अन्तर्दर्शी युगपुरुषकी वह लाड़ली थी और एक दिन लाड़में डूबकर ही गांधीजीने उसे 'तूफ़ानी' की उपाधि दी थी। उस युगके रायबहादुर और इस युगके पद्मभूषण, दोनोंसे निराली थी उसकी यह उपाधि। इस उपाधिके साथ यह प्रमाणपत्र भी—"वह सचमुच तूफ़ानी है। सारी ज़िन्दगी वह तूफ़ानकी तरह जबर्दस्त रही है और मरते दम तक भी वह

तूफ़ानी ही रहेगी।" गाँधीजीकी भविष्यवाणी अक्षरशः सच निकली और वह मौतके साथ अठखेलियाँ करती, उसपर व्यंग कसती और उससे ठोंकरें खेलती इस दुनियासे यों गई कि आदमी मौतके भयपर शरम खाये।

१९३० के तूफ़ानी दिन थे। आज़ादीका नशा दिल-दिमाग़पर छाया हुआ था। सुबह, दोपहर, शाम, रात टक्कर ही टक्कर और चक्कर ही चक्कर। जेलें गरमा रहीं थीं और हथकड़ियाँ हाथोंके आस-पास ही आँख-मिचौनी खेल रहीं थीं। मनमें आया कि तालाबकी क्या गुच्चक और शान्तसरिताकी लहरोंमें क्या तैरना; बाढ़में तैरूँ, तो कुछ लुत्फ़ है। बस एक कान्फ्रेंसकी योजना की और मुख्य वक्ताके रूपमें श्री आसफ़अली को निमंत्रण देने दिल्ली गया।

भाग्यकी बात, डाक्टर अंसारीके बंगलेपर उसी दिन महामना मालवीयजी सहित कांग्रेसकी पूरी कार्यकारिणी पकड़ी गई और आसफ़-अली साहबके लिए वचन देना कठिन हो गया। बोले—"तुम सत्यवतीसे तै कर लो, वह ज़रूर चली जायँगी।"

मैंने निराश होकर कहा—"मैं इस कान्फ्रेंसमें ऐसी आग बरसाना चाहता हूँ, जो मेरी गिरफ्तारीके बाद भी तहसील गरम रखे भाई साहब!"

अपनी मीठी मुसकराहटमें बोले—"तो सत्यवती एकदम ठीक है। तुम जानते नहीं, वह तो जीती-जागती होलिका है।"

मैं उनसे मिला। लम्बी भरी देह, दिपता, तपता चेहरा, मोटा हाड़, मजबूत क़दम, कड़कती आवाज़ और मीठा व्यवहार। बोलीं—"दमनका पहिया तेजीसे घूम रहा है। प्रचार अब बहुत हो चुका। कान्फ्रेंसोंके झमेलेमें मत पड़ो। इन कान्फ्रेंसोंसे सरकारको एक ही जगह अनेक शेर मिल जाते हैं। अब तो जो जहाँ है, वहीं धड़ल्लेसे आग लगाता रहे।"

मुझे इस नारीके चारों ओर क्रान्तिके गरम वातावरणका स्पर्श अनु-भव हुआ और मैंने सोचा—"यह जोशमें भड़ककर जेल चली जानेवाली

स्वयंसेविका नहीं है, यह तो विप्लवके नक्शे बनाकर क़दम उठानेवाली वीर बाला है।" उठते-उठते उसने कहा—"धनियोंके चन्दोंपर रौनक करनेवाली कान्फ्रेंसोंका मोह छोड़ो मेरे भाई, ग़रीबोंमें घुस जाओ, किसानोंको उठाओ, मजदूरोंको जगाओ।"

और तब ले आईं वे मेरे लिए नाश्ता और बोलीं—"जेल जाना ज़रूरी है, पर इसे ही सब कुछ मत समझो। मुख्य बात है ग़रीबोंको यह समझाना कि वे ग़रीब क्यों हैं, असहाय क्यों हैं और क्या कर सकते हैं?"

उस युगमें इस तरहकी बात सोचना एक आदर्श ही था, पर अगले १५ वर्षोंमें उन्हें समीपसे देखकर मैंने सोचा है—सत्यवती एक तैराक नहीं, गोताखोर थी—तलगामी, तलस्पर्शी, अतलदर्शी।

वह यों चलती कि हम झपटें, वह यों झपटती कि हम दौड़ें। ठीक ही वह जीती-जागती होलिका थी।

मैंने ऐसे नेता देखे हैं, जो देशकी ग़ुलामीके वर्णनसे जनताको रुला दें और ऐसे नेता देखे हैं, जो ग़ुलामीके ज्ञानका म्यूजियम कहे जा सकें, पर ग़ुलामीको जलन कलेजेमें महसूसकर, अपने एकान्तमें बिलखनेवाले जो थोड़ेसे साधक मैंने देखे हैं, उन्हींमें एक थीं—सत्यवती बहन।

एक वे होते हैं, जो बेड़ियोंको निकाल डालना चाहते हैं, एक वे होते हैं, जो काट डालना चाहते हैं और एक वे होते हैं, जो उन्हें तोड़ डालना चाहते हैं—भले ही इसमें वे लहूलुहान हो जायें। इन्हींमें एक थीं सत्यवती बहन।

वह उनमें नहीं थीं, जो पहाड़से सिर फोड़ा करते हैं, पर वह उनमें थीं, जो पहाड़ तोड़कर सड़क बना लेते हैं।

वह उनमें नहीं थीं, जिनके जीवनमें देशभक्तिके भी सीज़न आते हैं; वह उनमें थीं, देशभक्ति ही जिनके जीवनकी सृजनभूमि होती है।

वे उनमें न थीं, जिन्हें रंज भी होता है, तो ज़रा आरामके साथ; वे उनमें थीं, जिनका आरामके साथ कोई रिश्ता ही नहीं होता। विश्राम

में उनका विश्वास नहीं था और समयसे नहाना-खाना उनके लिए शायद वर्जित ही था। एक धुन, भाग-दौड़ उनपर सदा सवार रहतीं और उस सवारीमें ही वे झूमा करतीं।

एक मुसीबतमें फँसा मैं उनसे मिला, पर एँ, रंग फीका पड़ गया है, गाल कुछ पिचक गये हैं, आँखें भी धसकती-सी और इन सबसे उनकी उठी हुई नाक और भौंहें कुछ और भी उठी-उठी सी। वे अस्वस्थ। अब ऐसेमें अपनी बात क्या कहूँ उनसे, पर लीजिए कहलवा ली उन्होंने मेरी बात। बोलीं—"यह तुम्हारी क्या बात है, यह तो मेरी ही बात है।"

एक आत्मीय विश्रामके लिए उन्हें अपने मकानपर ले आये थे। वहीं मैं उनसे मिला था। वे आ गये और लगे मुझे झाड़ने—"आप लोग इन्हें मारकर ही दम लेंगे!" बात यह थी कि हमारे जिलेकी राजनैतिक कान्फ्रेंस हो रही थी, मैं स्वागताध्यक्ष था और उस देहातके लोगोंसे वादा कर चुका था कि उसमें श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित आयेंगी, पर श्रीमती पण्डित बीमार हो गईं—आना अब असम्भव था। जो मिलता, उनके आनेकी बात पूछता। मैं कहता—आचार्य नरेन्द्रदेव आ रहे हैं और··· ·········, पर वह बीचमें टमक पड़ता—"देखिए, विजयालक्ष्मीको ज़रूर बुलाइये।" मैं कहता—"हाँ, हाँ, वे भी आ रही हैं।" वह कहता—"हाँ, बस और कोई आये न आये, उन्हें ज़रूर बुलाइए।" जाने क्या हुआ, पूरे देहातमें यही हवा थी, पर विजयालक्ष्मीको लाऊँ कैसे?

मैंने सत्यवती बहनसे कहा था—"अब इज्ज़त बचानेका एक ही उपाय है कि आप विजयालक्ष्मी बनकर आयें" और उनके मेज़बान कह रहे थे—"आप लोग इन्हें मारकर ही दम लेंगे।"

सत्यवतीने आनेसे साफ इनकार कर दिया। मैं सोच रहा था—अब देहातके लोग मेरा दम लेंगे, पर अपने मेज़बानको चायके लिए भेजकर वे बोलीं—"मैं सुबह ६ बजेकी गाड़ीसे चलकर १२॥ बजे सहारनपुर पहुँच जाऊँगी! तुम वहाँसे मुझे कान्फ्रेंसमें ले जानेका प्रबन्ध

रखना। बस पहुँचते ही लैक्चर और तुरन्त वापसी। अब यहाँ इस बारेमें कुछ मत कहो।"

और सचमुच वे ठीक समय पर पहुँच गईं। मैंने उनका बहुत शानदार परिचय कराया कि न विजयालक्ष्मी कहा, न सत्यवती, पर लोग विजयालक्ष्मी ही समझे। वे खूब जमकर बोलीं। उन्होंने बीच-बीचमें खूब तड़खे लगाये और जनताने बार-बार विजयालक्ष्मीकी जयसे आकाश गुंजाया। जब लोग विजयालक्ष्मीकी जय बोलते, तो वे नम्रतासे हाथ जोड़तीं और हम लोगोंकी ओर देखकर मुसकरातीं। लोगोंके उत्साहमें ज्वार आ जाता।

बादमें जब उन्हें धन्यवाद देने मैं दिल्ली गया, तो बोलीं—"कार्यकर्ता की इज्ज़त ही कांग्रेसकी शक्ति है। तुम्हारी बात बिगड़ जाती, तो उस इलाकेमें बरसों कांग्रेसके काम पर असर पड़ता।" मैं उनकी तरफ़ देखता रह गया—ओह न वे मेरे लिए गई थीं, न कान्फ्रेंसके लिए; वे तो अपनी कांग्रेसकी प्रतिष्ठाके लिए ही बीमारीमें उठ धाई थीं—कितनी गहरी थी उनकी यह निष्ठा!

निष्ठा मनकी शक्ति है, पर तनके अपने नियम हैं। तनको भूलकर वे मनमानी करती रहीं, तन गलता रहा। थकान और भूखसे हरारत हुई, हरारतसे प्लूरिसी और तीसरी बार प्लूरिसी ही हो गई टी० बी०। इसी दशामें आ गया ९ अगस्त १९४२! उन्होंने रेडियो पर गाँधीजी की गिरफ्तारी सुनी कि घरसे खिसकीं और वे खिसकीं कि पुलिस आई, पर वे तो अब फरार थीं।

ओह, फरारीके ये छह सप्ताह। सत्यवतीके कलेजेकी जो आग गाँधीके व्रत-बन्धनसे बारह वर्ष बँधी रही थी, वह खुल खेली और जाने कहाँ-कहाँका सीमेण्ट हो गया भुस और लोहा पानी। उसमें ग़ज़बकी संगठनशक्ति थी। पलक मारते उसने पटाखोंको बम बना दिया और वे धड़ाके हुए कि वायसरीगल लाजका कलेजा काँप-काँप गया।

और तब पहुँच गईं वह सींखचोंके उस पारकी अपनी प्रिय दुनियामें, जिसे वह अपना 'शाही विश्राम गृह' कहा करती थीं। एक बार उन्होंने मुझसे कहा था--"जब बापू जेलमें होते हैं और मैं बाहर, तो मुझे लगता है कि मैं उनसे दूर हूँ, पर वे जेलमें हों और मैं भी जेलमें हूँ, तो लगता है मैं उनके साथ हूँ; भले ही मेरी जेल उनकी जेलसे लाख मील दूर हो।" तो अब वह गांधीजीके साथ थीं। हायरे प्यार !

मन बग़ावतके नशेमें खुश-खुर्रम, पर तन टी० बी० से जर्जर—तेज़ीसे मृत्युकी ओर बढ़ता-भागता ! सरकारी डाक्टरोंने सलाह दी--अब बचना असम्भव है और सरकारकी समझदारी जागी--"छोड़ दें इसे" पर हायरे शासकके भ.. और वाह रे सत्यवतीके आतंक----"यह घरमें पड़ी-पड़ी भी तूफ़ानके गोले छोड़ती रहेगी।" विशेषज्ञोंने बीचकी राह निकाली और सत्यवतीको जेलके सींखचोंसे निकालकर लाहौरके गुलाब देवी अस्पतालमें नज़रबन्द कर दिया गया—मुक्त भी, बन्दिनी भी !

सत्यवती मुक्तात्मा थी, बन्दी होना उसका व्रत था, पर यह मुक्त बन्दिनी क्या है ? उसकी ठण्डी बग़ावत कसमसाई और उसने सरकारको कई ख़त लिखे, पर सरकार खामोश रही, तो वह गरम हो उठी।

यह है १० फरवरी १९४५: दिल्लीके दैनिकोंमें सत्यवती बहनका पत्र छपा है, जिसने नागरिकोंके हृदयकी धड़कनोंको प्यारके स्पन्दनसे भर दिया है और सरकारी क्षेत्रोंमें भूत नाच उठे हैं।

"प्यारी बहनों और भाइयों,

मैंने देहली आनेका फैसला कर लिया है। आप जानते हैं कि इंसानका अपने घर आना इंसानी हक़ है। यह हक़ कोई भी हकूमत या इंसान नहीं छीन सकता। मैंने चीफ कमिश्नरको कई ख़त लिखे कि वे मुझपरसे अपनी ग़ैरइंसानी पाबन्दियोंको हटा लें, नहीं तो मैं उनकी पाबन्दियोंको तोड़कर भी अपने घर जाऊँगी।

मैं इंसानी हक़ोंके लिए लड़ने वाली एक खिदमतगार हूँ। बावजूद

बीमार होनेके कारण मेरा दिल और जिस्म हकूमतकी धमकियोंका मुकाबला करनेको सदा ही तैयार और मज़बूत है। मैं २५ फरवरीको देहली आ रही हूँ। मैं जानती हूँ कि शायद मुझे बीचमें ही रोक लिया जायगा और मैं आप तक न पहुँच सकूँगी, लेकिन मेरे दिलकी तड़प और आवाज़को आपतक पहुँचनेसे हकूमत नहीं रोक सकती।

मेरे साथियों! मैं आपसे एक अर्ज़ करना चाहती हूँ कि अगर आपका मुझसे कुछ भी स्नेह है, तो मेरे हिस्सेके कामको भी अपने कन्धों पर उठा लो। मेरे दिलकी एक ही आरज़ू, एक ही अभिलाषा और एक ही तमन्ना है और वह यही कि भारत आज़ाद हो। आज़ादीकी इस राहमें हम जितना भी बलिदान कर सकें, करें और हम तब तक चैनसे न बैठें, जब तक आज़ादी हासिल न कर लें।

आप अपनी बहनकी तड़प और आवाज़को कभी न भूलना। मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि आपकी बहन अपने आख़िरी स्वाँस तक भारतकी राष्ट्रीय शानको क़ायम रखेगी। मेरे स्नेह भरे नमस्कार।"

लाहौरके प्लेटफार्मने बहुतसे दृश्य देखे हैं, पर अपने पाससे गुज़रती रेलोंसे वह कहा करता है कि वैसा दृश्य उसने कभी नहीं देखा। लाहौरसे देहली जाने वाली ट्रेन, सी० आई० डी० और पुलिसके अफसरों की भीड़ विस्मय-विमुग्ध, तो साथी-सहचर करुण-कम्पित, टी० बी० से जर्जर और इस समय भी १०४ डिग्रीके बुखारसे परितप्त सत्यवती; दबंग, दीप्त, उल्लसित, निर्लिप्त! कहनेको अस्पतालसे घर जा रही, पर कौन नहीं जानता कि यह है मरण-प्रयाण, यह है अन्तिम दर्शन!

शाहदरा पर गाड़ी रुकी, तो पुलिस अफसर डब्बेमें आये; बाग़ी-विद्रोहीको गिरफ्तार करने, पर डब्बेमें बाग़ी कहाँ है? यहाँ तो है क्षयके ज्वर, थकान और विचारोंकी उत्तेजनासे श्रान्त एक मा, एक बहन, मुसकराती कहती--"मैं ठीक हूँ, आप अपना काम कीजिये। आपका इसमें कोई क़ुसूर नहीं, बड़ोंके हुक्मकी तामील ही आपका काम है।"

देहलीके टी० बी० अस्पतालमें उन्हें रखा गया। वहीं मैं मिला उनसे अन्तिम बार। कहाँ वह १५ साल पहली जाटनी, कहाँ यह कंकाल, पर दिलमें वही करक, तो विचारोंमें वही कड़क---"मेरे प्यारे भाई, सिपाही का मरना क्या, जीना क्या? मरना भी यह, जीना भी यह कि उसका सिर न झुके। मैं जा रही हूँ, पर मैं देख रही हूँ कि भारतसे अंग्रेज़ भी जा रहा है। मैंने अपना काम किया है, सबसे कह दो कि वे अपना काम करते रहें।"

दस दिन बाद दो अक्टूबरको, गांधी-जयन्तीके दिन उसका जीवन पूर्ण हो गया। अंतिम क्षणों तक वह जागरूक रही निर्भीक, निर्मम, निर्लिप्त, अश्रान्त, अक्लान्त, कर्मयोगिनी।

संक्षेपमें अहिंसक बलिदान-माला का दीप्तिमान् सुमेरु सत्यवती बहन!

अखण्ड भारतकी ब्रह्म वेलामें !

सर्वसमर्थ अंग्रेज़ अपनी डेढ़ शताब्दीकी दिग्दिगंत-व्यापी शासक-सत्ताको एक मामूली चटाईकी तरह लपेटकर १५ अगस्त १९४७ को भारतसे यों चले गये कि जैसे वे यहाँ थे ही नहीं; यह इतिहास का आश्चर्य है।

हाँ, इतिहासका आश्चर्य और इस आश्चर्यका आश्चर्य है यह कि वे गये, तो बस गये ही; फिर लौटकर नहीं आये। क्या सोचा था बेचारोंने और क्या हो गया ?

क्या सोचा था ? दो महायुद्धोंने बूढ़े ब्रिटिश सिंहको थका दिया था और उसमें क्रान्तिभावनासे उफनते भारतको बलपूर्वक बसमें रखनेकी शक्ति न थी। उसकी सूझ-बूझने कहा, इसे मैं अब यों क़ाबू करूँगा कि इतिहास अपनी उदारताका सेहरा मेरे सिर बाँधे और स्वार्थोंकी पूर्ति को कोई आँच न आये—मज़ा यह कि कोई उत्तरदायित्व भी अपने कन्धों न हो; श्रेय भी मिले, प्रेय भी न छूटे !

उसने सोचा—स्वतंन्त्रताकी घोषणा होते ही पाकिस्तानके ज़िलों पर कब्ज़ा रखने वाले अंग्रेज़ अफ़सर हिन्दू कत्ले आम करायेंगे और लाखों हिन्दू भागकर पहुँचेंगे भारत। प्रतिक्रियामें वहाँ भी होगा मुस्लिम क़त्ले आम और लाखों मुसलमान उखड़ेंगे—भागेंगे और जब भारत सरकार इस भगदड़में अस्तव्यस्त होगी, तब फटेंगे वे महाबम, जिन्हें हमने १०० वर्षों में पाला-पोसा है।

हैदराबादकी महाशक्ति अपनी स्वतन्त्रताकी घोषणा करेगी, तो जूनागढ़ आज़ादीका ऐलान। भरतपुरका जाट राजा जाटस्तान का झण्डा फहराएगा, तो जोधपुरका राजपूत नरेश राजस्तानका नारा देगा !

पटियालामें स्वतन्त्र सिखिस्तानकी जय बुलेगी, तो दक्षिण भारत द्राविडिस्तानकी पताका उड़ाएगा। त्रावणकोर क्यों चूकेगा और ग्वालियर, बड़ौदा एवं इन्दौरके मराठे क्या खामोश रहेंगे ? अनुभवहीन भारत सरकार जब तक इधर ध्यान दे, काश्मीरमें तूफानकी तरह कबायली चढ़ आयेंगे और घबराई भारत सरकार अंग्रेज़ोंसे मदद माँगनेको मजबूर हो जायगी। बस पंच बनकर वे आ बैठेंगे और ऐसा चक्र घुमायेंगे कि भारत टुकड़ोंमें बटकर यूरोपके बालकन राज्योंकी तरह सदाको अंग्रेज़ोंका आश्रित हो जायगा—स्वतंत्र होकर भी कठपुतली !

भारत स्वतन्त्र हुआ कि जूनागढ़के नवाबने पाकिस्तानमें मिल जानेकी घोषणा कर दी, त्रावणकोरने बग़ावतका झण्डा फहरा दिया, काश्मीर पर कबायली चढ़ दौड़े, हैदराबादने आज़ादीका नारा पूरे ज़ोरसे उड़ा दिया और दोनों ओर अशान्ति मच गई।

भारतके नेताओंने अद्‌भुत इच्छाशक्तिका परिचय दिया। गांधीजीके बलिदानने देशमें शान्ति स्थापित की, तो नेहरूके व्यक्तित्वने सेनाकी निष्ठाको बनाये रखा और सरदारकी शक्तिने जूनागढ़को तोड़ा, तो त्रावनकोरको झुकाया और उड़ीसाके राज्योंको भारतमें मिलाकर अखण्ड भारतकी नींव रख दी। वीर सेनापति करिअप्पाके नेतृत्वमें भारतीय सेनाने काश्मीरमें पाकिस्तानियोंके छक्के छुड़ा दिये और इस तरह भारतीय जनताका उखड़ता आत्मविश्वास जगाकर अंग्रेज़ोंके मनसूबे धूलमें मिला दिये, पर हैदराबाद पूरे ज़ोरों में था और यही नहीं कि उसे भारतकी सार्वभौम सत्ता स्वीकार न थी, उसका डिक्टेटर कासिमरिज़वी दिल्लीके लाल क़िले पर हैदराबादी झण्डा फहरानेकी घोषणा कर रहा था। सच तो यह है कि हैदराबादमें स्वतन्त्र भारत और अंग्रेज़ी मनसूबेके भाग्यकी अंतिम परीक्षा हो रही थी।

निजामके धनसे पालित डिक्टेटर कासिमरिज़वीकी भारत-विरोधी

आवाज़ इतनी प्रचण्ड और हत्यारी थी कि भारत-भक्ति की आवाज़ भी वहाँ असम्भव थी; प्रयत्नोंकी चर्चा तो एक पागलपन ही है। भारतके महान् भविष्य और भयंकर सर्वनाशके बीच एक भाग्य-निर्णायक मोर्चा लगा हुआ था।

मोर्चे पर सेनापतिके आदेशके सहारे अपनी टुकड़ीके साथ बढ़ जाना आसान है, पर स्वयं सेनापति, स्वयं साथी और स्वयं सैनिक बनकर क़दम बढ़ाना किसी बिरलेके लिए ही सम्भव है। हैदराबादके दैनिक 'इमरोज़' का सम्पादक शोइबुल्ला खान भारतमाताका एक ऐसा ही बिरला पुत्र था!

वह एक वर्चस्वी पत्रकार था और उम्र पाता, तो उर्दूकी पत्रकार-कलाका गणेश शंकर विद्यार्थी होता, उसे एक नया मोड़ दे पाता। उसकी पत्रकारिताका फूल उसकी विद्वत्ताके सुनहरे गमलेमें न खिला था; वह खिला था उसके कलेज़ेकी आगमें—हाँ, आगका फूल ही थी उसकी पत्रकारिता। कवि दिनकरकी एक पंक्ति है—'**मूक है सबसे बड़ी आवाज़।**' शोइबुल्लाकी विशेषता उस कलाकारमें न थी, जो सबसे निराली बात, सबसे निराली भाषामें कहता है। उसकी विशेषता इसमें थी कि साम्राज्य-लोलुप निजामके फरमानों, उसके डिक्टेटर कासिमरिज़वीकी राक्षसी हुंकारों और दैत्यवृत्ति रज़ाकारोंकी आतंक भरी कारस्तानियोंके नीचे जनगणकी जो आवाज़ दबा दी गई थी, वह अपने लेखोंमें उसे जनताकी भाषामें उभारता था, उबारता था। हाँ, वह उस सबसे बड़ी आवाज़की मूकता को वाणी देता था और कहूँ कि वह पत्रकारिताका प्रह्लाद था। प्रह्लाद, जो लोहेके जलते खम्भको भी हँसते-हँसते लिपटनेको प्रस्तुत रहे!

निज़ाम भारतके धनपतियोंमें नहीं, विश्वके धनकुबेरोंमें है। टूटी मोटरमें चढ़कर और मरम्मती कपड़े पहनकर जो धन उसने पाई-पाई जोड़ा था, उसे वह अब बखेर रहा था! सौ-हज़ार नहीं, लाखों-करोड़ोंमें वह

सोच रहा था आजकल और शोइबकी क़लमको खरीदनेके लिए ५-७ लाख रुपये फेंक देना उसके लिए मामूली बात थी। अपने रूपकी रश्मियाँ बखेरती थैलियाँ उसकी क़लमके चारों ओर छमछमाई। इन रश्मियोंमें कोठी थी, कार थी, शानदार प्रेस था, चमकता दैनिक था, मोटी पासबुक थी, जीवनका वैभव था। उसने अंगारों भरा अग्रलेख लिखते-लिखते एक बार इन थैलियोंकी तरफ़ देखा और मुसकराकर वह फिर लिखने लगा। ओह, यह मीठी-पैनी मुसकराहट कि थैलियाँ शरमाकर सामनेसे हट गई।

तब उसे पढ़ाया गया—हैदराबादकी आज़ादीका मसला इस्लामकी इज्ज़तका मसला है। कन्याकुमारीसे कराची तक चाँद-सितारोंका परचम फहराए, क्या यह सुनहरा सपना तुम्हें दिखाई नहीं देता? तुम आज इसमें मदद दो, तो कल इसकी एक ताक़त होगे। हाँ, एक ताक़त, एक गौरव!

शोइब ज़रा तीखा हो उठा था—इस्लामका नाम मत लो। वह मेरे विश्वासोंकी आत्मा है, उसे देशके साथ की जा रही गद्दारीसे मत जोड़ो और याद रखो, मुझे न मुल्ककी चाह है, न किसी हुकूमतका ऊँचा पाया बननेकी। मैं सचाईका एक अदना ख़ादिम हूँ और इसीमें अपनी सबसे बड़ी शान समझता हूँ।

सुनकर उनके मुँह उतर गये, जो उनके होकर उस तक आये थे और तब शासनका दर्प अपनी पर आ गया। कासिमरिज़वीने अपने भाषणमें गरज कर घोषणा की, "मैं जानता हूँ यहाँ भी गद्दार हैं, पर मैं उनसे नहीं डरता और न मुझे उनकी परवाह है। मैं अबतक बर्दाश्त करता रहा कि हर सिरफिरा राह पर आये, पर अब मैं हर उस हाथको काट दूँगा, जो आसफ़िया हुकूमतके खिलाफ उठेगा।"

शोइबके दोस्त चौंक उठे थे, उसे उन्होंने सावधान किया था—"और कुछ नहीं, तो यह मकान ही बदल लो—सावधान रहनेमें क्या हर्ज़ है।" शोइब ख़तरेसे क्या बेख़बर था? ना, वह बेख़बर नहीं, बेख़ौफ़

था। उसने कहा था–"दोस्तों, मैं मर नहीं सकता, शहीद हो सकता हूँ। घबराओ मत और जो होना है यहीं होने दो। मैं अपनी प्यारी भारत-माताके लिए क़लमसे लड़ रहा हूँ पर उनमें नहीं हूँ, जो सर क़लम होने का वक़्त आने पर क़लम रख देते हैं?"

राष्ट्रकवि रवीन्द्रनाथका एक गीत है–'**एकला चलो, एकला चलो, एकला चलो रे!**" शोईब सत्यके कँटीले मार्ग पर एकला चला जा रहा था, अपनी आस्थाके बल काँटोंको फूल माने। वह उनमें न था, जो परिस्थितियोंका रोना रो, बैठ जाते हैं। वह उनमें था; जो इकले दम मंजिल लेनेका विश्वास रखते हैं और बिना भूले, बिना भटके और बिना अटके अपनी राह चले चलते हैं।

आखिर शोइब किस नशेमें था? एक तरफ़ हैदराबादकी पूरी राक्षसी ताक़त और एक तरफ़ यह इकला तरुण? उसके साहसकी शक्तिका आधार क्या था?

वह शहादतके नशेमें चूर था! उसके साथ सत्यनारायण थे, वह इकला कहाँ था? और शक्तिका आधार? वह आधार था उसका विश्वास–'शहादत कभी खाली नहीं जाती।'

यह है उसकी उछलती जवानीकी कहानी–निडर, निस्पृह, निर्द्वन्द, पर हाँ, उसके जन्मकी भी तो एक कहानी है–शुभशकुन-सी सम्भावनामय! गान्धीजी रेलसे कहीं जा रहे थे और पुलिस इन्स्पैक्टर श्रीहबीबुल्ला खानकी बीचके एक स्टेशन पर ड्यूटी थी। गान्धीके बारे में उनकी जैसी-तैसी ही राय थी, पर देखा तो मुग्ध हो गये। शामको घर लौटे, तो सुना बेटा जन्मा है और उसे गोद लिया, तो भौंचक–एकदम गांधी, "अरे, यह तो एकदम गांधी है।" बड़ा होने पर भी वे कभी-कभी लाड़में कहा करते-शोइब गान्धी और सचमुच शोइबको गान्धीके रास्ते जाना था।

उस दिन रेडियोने गान्धीजीके बलिदान की खबर दी, तो शोइबकी आँखें बरस पड़ीं। बहादुर बेटेकी बहादुर माँने कहा–"अरे, तू इतनी

अच्छी मौत पर रोता है ?" जाने क्या सूझा शोईबको कि उठकर उसने मांके कन्धे पकड़ लिये और भाव-विभोर होकर कहा—"अम्मी, मैं भी यों ही जाऊँ, तो तू रोयेगी तो नहीं ?"

और वह यों ही चला गया ! 'इमरोज़' का अंक तैयार कर वह रात ढले प्रेससे उठा—साथमें उनके साले—पत्रके मैनेजर, पर वे अपने घरके पास ही थे कि उन्हें घेर लिया गया। सब कुछ सुनियोजित था कि पहले ही वारमें शोइबका दाहिना हाथ काट डाला गया और दूसरे वारमें बाँया हाथ। मैनेजर चिल्लाया, "शोईब भाईको बचाओ।" शोईबकी पत्नी और कुछ पड़ौसी बाहर आये, पर तबतक एक गोली पसलीके आरपार हो चुकी थी और एकने छातीको बीन्ध दिया था ! तलवारका एक भरपूर हाथ सिरकी एक तरफ़ पड़ा था और सब जगहसे खूनके फव्वारे छूट रहे थे।

पत्नी का सहारा लिये वे घरमें आये—"तुमने हल्ला क्यों नहीं मचाया भला; एक-दो को तो मैं ही बन्दूकसे ढेर कर देती ?" पूछा वीर पत्नीने, तो बोले शोईब—"मैं चिल्लाता, तो वे मुझे डरा हुआ समझते, पर न मैं डरा हूँ, न कभी डरूँगा।"

वे यों बोले, जैसे वे अपनी सामान्य स्थिति में हों और खेल-खेलमें कोई मामूली खरौंच खा गये हों।

मौतका जाल चारों ओर फैला हुआ था, पर सच कहूँ आकाशके तारे आश्चर्यसे देख रहे थे कि शोईब अब भी अपनी पूरी मौजमें थे—जैसे छुट्टीके दिनकी मौजमें हों। उन्होंने एक गिलास पानी पिया और पत्नीके हाथसे तीन पान खाये; हाय, उनके हाथ अब कहाँ थे, पर वाह रे बहादुर, वाहरे मस्त कि इलायची लेना भी न भूला और कैसे खिले वे प्यार भरे पान कि पैरिसकी लाखों लिपिस्टिकें मात हो गईं !

यह आ गई पुलिस और यह ऐम्बुलैंस—चलो अस्पताल। यह है शहीद की बिदाई—"रोना मत, किसीको रोने देना मत। मैं बचूँगा नहीं, पर रोकर

मेरी बहादुरीको छोटा मत करना और मेरे बाद मेरे जो प्यारे-अज़ीज़ आएँ, उनसे पर्दा न करना !"

यह फटी धरती, यह चिरा आसमान; खबर सुनकर शोइबके बूढ़े माँ-बाप आये—बूढ़े माँ-बाप, जिन्होंने ११ बच्चोंको जन्म दिया और उनमेंसे १० को अपने हाथों धरतीकी गोद सुला दिया; शोइब ही जिनकी एक आँख ! लोकभाषामें-एक आँखका क्या सुँआखा और एक पूतका क्या सपूता; जाने कब फूट जाये, जाने कब रूठ जाये !

माँ बेहाल, तो बाप बेचैन, पर शोइब शान्त; उसके पास जीवनके कुछ ही क्षण, उन्हें वह खोयेगा नहीं। बोला—"तीन गोलियाँ लगी हैं और चोट भी बहुत है, पर अब्बा, मैंने उफ नहीं की कि क़ातिल जान लें कि मैं एक बहादुर पठान हूँ।"

छोटी बच्ची और पत्नीको सम्भालनेकी बात बापसे कही कि ब्रह्म-वेलाका उदय हो आया—यह ब्रह्मवेला प्रभात की, यह ब्रह्मवेला अखण्ड भारतकी, जिसमें देशके जनगण जाग उठे और शहीद सो गया कि नये भारतका नया भाग्य सो न पाये !

शोइबके व्यक्तित्वकी विशिष्टता कहाँ है ? उसके जीवनकार्यमें ? घोर आतंककी घड़ियोंमें भी स्थिर रहने में ? ना, संहारके बाद और मृत्युसे पूर्व इन तीन घण्टोंके अजेय सन्तुलनमें, अजेय धैर्यमें, अजेय विश्वासमें और अडिग सहिष्णुतामें--यों भी कि साहससे जीनेमें और शानसे मरने में !

पोस्टमार्टमके बाद शोइब भाई फिर अपने घरपर—शोइब भाई, यानी उनका शव। अब भी घावोंसे खून चू रहा, पर चेहरा इतना शान्त कि कहीं भी कष्टके अनुभवकी सिकुड़न नहीं और पान रचे खूब सूरत होंटों पर एक मीठी-भीनी खुशबूदार मुसकराहट कि दुश्मन भी देखें, तो दंग रह जायें।

यह हैं शोइबके बूढ़े बाप, जैसे उनके दिलदिमाग़पर सीमेंटका

प्लास्टर हो गया—भावनाशून्य और यह है बूढ़ी माँ, जिसके विलापसे पूरा वातावरण प्रकम्पित।

यह लो, उसके भीतरका पठान जाग उठा—"लाओ, मुझे बन्दूक़ दो, मैं ख़ूनका बदला ख़ूनसे लूँगी।"

घरमें दो भरी बन्दूक़ें तैयार, पर यह है शहीद शोइबके कलेजेका टुकड़ा, वीर पतिकी वीर पत्नी, पीड़ासे पानी-पानी हुई भी स्थिर सन्तुलित—"अम्मी तुम इकले नहीं। अपने बहादुरको विदा करके हम दोनों बन्दूक़ उठाएगें।"

वीर पत्नीकी थपथपीने वीर माताके शोकको दिव्यदृष्टि बना दिया—"देखना मेरे लालका ख़ून कैसा रंग लाता है। वे आ रही हैं मेरे जवाहरकी फौजें, मेरे सरदारकी पलटन।" और वह चिल्लाई, जैसे किसी जलूसके आगे नारा लगा रही हो—"सारा हिन्दी यूनियन मेरा लाल।"

शोइब भाईको नहलाया गया, तो धरतीपर चू गया ख़ून। उनकी वीर पत्नीने अदबसे उसे अपने माथेपर लगा लिया। ओह, शहीद शौहर के ख़ूनसे रचा बहादुर पत्नीका ललाट और पत्नीके प्यार भरे पानोंसे रचे प्रियतमके अधर, हैदराबादकी क़िस्मत ही लाल हो गई और उस दिन हैदराबादके सेनापति इद्रीसने भारतीय जनरल राजेन्द्र सिंहके सामने अपनी तलवार झुकाई, तो हैदराबादके गर्वीले राजमुकुटने शोइबुल्लाकी शहादतको अपनी वन्दना ही तो अर्पित की !

आज कहाँ है हैदराबाद ? उसके रज़ाकारी हाथ-पैर कट गये, निज़ामी सिर खण्डित हो गया और शोइबुल्ला ? वह अब भी आकाशके तारोंमें बैठा—राजमहलके ठीक ऊपर, रातमें रोज मुसकुराया करता है !

प्रतिहिंसाके उन पावन क्षणोंमें !

[१]

१९३० में पहली बार जेल गया, तो मुझे एक सालकी सादी सज़ा मिली। सादी सज़ा कि खाना-पीना सरकारके सिर और काम कुछ नहीं !

काम : जेलका काम–जेलकी मुशक्कत, चक्की, कोल्हू, गर्रा, मूँज-कुटाई, बान-बटाई और पूरा काम न करो तो पिटाई।

और पूरा काम—रामका नाम लो; बैलके कन्धे और शेरके पंजे हों, तो वह पूरा हो। फाउण्टेन पेनवाले किसी बाबूके बसका वह कहाँ ?

सादी सज़ा हुई, तो खुश हुआ कि काम कुछ नहीं और कपड़े-लत्ते भी अपने घरके, बस बाबू बने खूब पढ़ेंगे और मौज रहेगी, पर १५-२० दिनोंके अनुभवने बताया कि पढ़नेके लिए ताज़ा दिमाग़ चाहिए और ताज़े दिमाग़के लिए चिकनी खुराक़।

१९३० में जेलकी खुराक, ताज़ी तो इतनी कि बासी बचे, न कुत्ता खाये, पर चिकनाईसे उसका रिस्ता-वास्ता नहीं। फिर पढ़ना जीवनका एक काम है, पढ़ना ही तो जीवन नहीं हो सकता और यह है सादी सज़ा, जिसमें कोई काम नहीं।

यह जीवन भी एक अजीब पहेली है। जिन सख्त सज़ावालोंको अपनी निगाहमें कभी दयनीय–कठोरजीवीं समझा था, उन्हें सुबह अपने-अपने काम पर जाते देख, मैं अपनी ही निगाहमें उनसे दयनीय हो उठा।

सादे क़ैदीको सुभीता है कि वह चाहे, तो मुशक्कत ले ले। सादा क़ैदी मुशक्कती बने, तो महीनेमें चार दिन रेमीशन (छूट) पाये; मानो कामका इनाम। अंग्रेज़ी सरकारसे जोश और बलिदानके उन तूफानी दिनोंमें

इनाम पानेकी चाह तो कौन कायर करता, पर हर घड़ी बैठे रहने और अस्त-व्यस्त सोचकर थक जानेकी मुसीबतसे छूटनेकी भावना अवश्य थी।

मैं भी अब मुशक्क़ती क़ैदी था और मैंने अपनी मुशक्कत बाग़-कमानमें चुनी थी। मुझे खेतका कोई अनुभव न था, फिर भी मैं अब १६ आदमियोंकी उस बाग़-कमानका एक सदस्य था, जिसे ज़िला-जेलकी पूरी खेतीकी देख-भाल करनी थी—जेलकी खेतीका अर्थ है सब्ज़ियोंकी खेती।

बाग़-कमानमें १५ 'इख़लाकी' क़ैदी थे और मैं अकेला कांग्रेसी। रामभज इस कमानका इंचार्ज था, मैं भी उसमें रलमिल गया और पहले दिन प्याज़की नौलाईका काम मैंने किया।

कामके साथ बातचीत सहज है और फिर जब कोई अजनबी अपने बीच हो ! बातें होती रहीं, काम चलता रहा। मेरी बातें उनके लिए दिलचस्प थीं और ज्ञानवर्धक भी। अपना और अपने राष्ट्रका भविष्य पहली बार ही उनके कानोंने सुना था–एक नये ढंगके आशावादका स्पर्श उनके हृदयने शायद आज पहली बार ही पाया था। उनमें कुछ चोरीमें जेल आये थे, कुछ मार-पीटमें और कुछ क़त्लके सन्देहमें भी, पर उन सभीमें मनुष्यताका ऐसा कोमल स्पर्श था कि दण्डकी क्रूरता जीवनमें पहली बार मुझे अनुभव हुई और मैंने सोचा जन्मजात चोर सम्भव नहीं और क़त्ल, मार-पीट कोई शौकिया करता फिरे, यह असम्भव है। यों चोरीका आरम्भ किसी मजबूरी में है, तो मारपीट और क़त्ल प्रायः एक क्षणिक आवेशके फल। एक मजबूरी और एक आवेश और पूरे जीवनकी बरबादी, निश्चय ही यह दण्डव्यवस्था स्वस्थ नहीं है।

पहलेही दिन हम लोग घुलमिल गये और मुझे सादे क़ैदीसे मुशक्कती होना बहुत अच्छा लगा।

[२]

कई दिन बाग़-कमानमें काम करते हो गये, तो एक दिन मैंने रामभज

से कहा—"मैं भी तुम्हारी कमानका एक क़ैदी हूँ, पर मैं देख रहा हूँ कि अपने हिस्सेका काम मैं पूरा नहीं कर पाता। काम तो पूरा होना ही है, इसलिए साफ़ है कि मेरे हिस्सेका काम मेरे साथियोंको करना पड़ता है। यह मुझे अच्छा नहीं लगता, इसलिए मैं चाहता हूँ कि कमानके लोगोंका मैं कुछ और काम कर दिया करूँ, जिससे मुझे सन्तोष रहे!"

रामभजका चेहरा बिगड़ गया। उसने कमानके ७-८ क़ैदियोंको, जो आस-पास काम कर रहे थे, अपनी कड़कदार आवाज़से बुलाया और डाटकर कहा—"क्यों बे, पण्डितजीसे काम करनेके बारेमें किसने कहा है कि कम काम करते हो?"

वे बेचारे सकपकाये और मैं कुछ कहनेको हुआ कि रामभजने गरज कर कहा—"अबे, दीखता नहीं तुम्हें कि ये महात्मागाँधीके खास आदमी हैं। इनका हमारे साथ मिलकर बैठ जाना ही बड़ी बात है।" मेरी तरफ़ देखकर वह बोला—"पण्डितजी, किसने कहा है आपसे काम करनेको। फिर ये हैं कौन आपसे कहनेवाले? जेलर भी कहे, तो आप कह देना कि रामभज करता है हमारे बदलेका काम!"

मैंने कहा—"रामभज भाई, मुझसे तो किसीने कहा ही नहीं कामको, तुम क्यों नाराज़ हो रहे हो? मैं तो आपही तुमसे कह रहा था कि मैं खेतका काम कम करता हूँ, तो कोई दूसरा ही काम कर दिया करूँ, जिससे मेरे साथियोंको कुछ आराम पहुँचे!"

रामभज हँसा। बोला—"क्या काम करेंगे आप हम लोगोंका?"

मैंने कहा—"मैं २-३ साथियोंके कपड़े रोज़ धो सकता हूँ। इन्हें पढ़ा सकता हूँ, कुछ देर रामायण सुना सकता हूँ।"

रामायणका नाम सुनकर रामभजका चेहरा खिल गया और दूसरे क़ैदी भी खुश हुए। दूसरे दिन मैं उन्हें कुछ देर रामायण सुनाने लगा और कुछको धरतीपर उंगलीसे लिख अ आ इ ई भी पढ़ाने लगा।

[३]

रामायण सुनाते समय मैं देखता रामभज भाव-विभोर हो उठता और कथाकी प्रसंगधारामें डूब-डूब जाता।

एक दिन बातों-बात मैंने कहा---"रामभज भाई, तुम्हें भगवान् राममें बहुत श्रद्धा है और संयोगकी बात कि तुम्हारा नाम भी रामभज है।"

उसकी नसोंमें एक गुबारा-सा भर उठा और तड़का-सा बोला---"मास्टरजी, (मेरा अब यही नाम था) भगवान् और भक्तिकी बात तो मैं जानता नहीं, पर यह ज़रूर जानता हूँ कि राम एक मरद (मर्द) था।"

खोया-सा मैं उसकी तरफ़ देखता रह गया और तब उसे टटोलता-सा मैं बोला----"तो रामभज भाई, तुम रामकी वीरताके भक्त हो?"

"अजी, कोई साला अपनी औरतकी आबरूपर हाथ डाले और हम उससे बदला न लें, तो मरद क्या, जनखे ही हैं।" रामभजने पूरे आवेश में कहा और तब वह आपही आप बुदबुदाया---"मेरी कैद तो पहले भी कट गई थी और अब भी कट ही जायगी, पर उनकी गर्दन तो अब कट कर जुड़ नहीं सकती!"

मेरा ध्यान तुरन्त उसके कुरतेकी पट्टीपर गया, तो वह नीली थी और जेलकी भाषामें इसका अर्थ---'हैबीच्युअल'--यानी रामभज आदतन अपराधी है और पहली बार ही जेल नहीं आया।

मैंने उसके आवेगको सहलाते हुए-से कहा---"रामभज भाई, तुम किस अपराधमें जेल आये हो?"

वह खुरपा जमीनमें गुभाये खोया-सा बैठा था। मेरे प्रश्नका झटका खाकर चौंका-सा बोला---"अपराध मास्टर!" वह मुसकराया---"जो अपराध मैंने किया है, उसे तो कचहरी नहीं मानती और जो किया नहीं, उसमें मैं दूसरी बार क़ैद काट रहा हूँ मास्टरजी!"

"जो अपराध तुमने किया है, उसे कचहरी नहीं मानती?" मेरे

मुँहसे निकल पड़ा, तो सुना—"कचहरी उसे मानती, तो-तीजोका रस्सा मेरे गले न पड़ जाता ?"

और रामभज अपनेमें समाया-सा उठकर चल पड़ा। वह जेलकी बड़ी दीवारके सहारे-सहारे जा रहा था और मैं उसे देख रहा था। मोड़पर पहुँचते ही उसने करीमको ललकारा—"अरे, एक झटकेमें तो आदमीका गला ककड़ी-सा कट जाता है और तेरेसे नाली नहीं कटती !"

मैंने सोचा—रामभजके भीतर कोई रहस्य सिन्धड़ रहा है, पर वह उसे चारों ओरसे इस तरह घोटे है कि कहीं धुआँ निकल नहीं पा रहा।

[४]

कोई महीने भरके प्रयत्नसे जो कुछ हाथ आया, वह रामभजके चरित्रका एक पवित्र पृष्ठ था। ऐसा पृष्ठ, जिसने मेरे बन्दी जीवनको एक अजीब उन्मादसे भर दिया।

रामभज, गाँवका मामूली माली; जिसकी झोंपड़ी तक अपनी जमीनपर नहीं और ठाकुर, गाँवका ज़मींदार, जिसके हाथमें सब कुछ, जिसके पास सब कुछ, जिसे किसी बातसे रोकनेवाला कोई नहीं !

रामभज काला-कलूटा और उसकी दुलहन रूपका लच्छा। जैसा रूप, वैसा ही नाम—चमेली। एक दिन किसी कामसे ज़मींदारकी हवेलीमें वह गई, तो ज़मीदारका मन ललचा। शक्तिका सिद्धान्त है—जो चाहूँ, सो पाऊँ। लौटते समय दहलीज़में उसने चमेलीका बायाँ हाथ थाम लिया। चमेलीने हाथ खींचा, तो प्रलोभनका पाश फैला—"सोनेमें पीली कर दूँगा चमेली, मैं दिलवाला आदमी हूँ !"

हाथकी खींच ढीली न पड़, कुछ तेज़ ही हुई, तो भयका पंजा फैलकर सामने आया—"रूपके नशेमें मत रहना चमेली, मिट्टीमें मिला दूँगा—मैं जितना मीठा हूँ, उतना ही कड़वा भी !"

चमेलीका दायाँ हाथ, जाने कब उठा और उसके पहुँचेपर कसी

चाँदी–गिलटकी भारी मट्ठी जाने कब ज़मींदारकी दायीं पुटपुटीपर पड़ी। वह पड़ी कि चमेलीका हाथ छूटा और वह भागी।

रामभजने रिश्तेदारीसे लौटकर चमेलीकी बात सुनी कि वह उल्टे पैरों ज़मींदारकी तरफ़ दौड़ा। ज़मींदारकी आँख सूजकर ककोड़ा हो गई थी और वह बैठा उसे सेंक रहा था कि रामभज जा खड़ा हुआ।

"खून तो हमारा हमेशासे पिया जा रहा था ठाकुर साहब, अब इज्ज़त पर भी हाथ पड़ने लगा ?" बिना किसी भूमिका और अदबके रामभजने कहा।

ठाकुर चोट खा चुका था, पर शायद आँखकी चोटसे दिलकी चोट गहरी थी। बेहयाईसे दाँत निकालकर ठाकुरने कहा—"ज़मींदारीकी हर चीज़में हमारा हक़ है रामभज, गुस्सेको थूक और अक़्लकी बातकर। हम ज़ोरजबरसे जो चाहें कर सकते हैं, पर हम वैसे आदमी नहीं। जब तू यहाँ तक ऊँट-सी गर्दन उठाये आ गया है, तो सुन ले—मिलेगा तुझे वो जो तू माँगेगा, पर तुझे बात हमारी माननी पड़ेगी।"

आवेशके जिस झोंकेमें चमेलीकी मट्ठी चल गई थी, उसीमें रामभजने पूरे ज़ोरसे ठाकुरके मुँह पर थूक दिया और घर चला आया !

कोई दो सप्ताह बाद पासके गाँवकी चोरीमें गये कुछ बर्तन थानेदारने रामभजकी झोपड़ीमें बरामद किये और हथकड़ी लगाकर उसे थानेकी हवालातमें ला बन्द किया।

दूसरे दिन सुबह थानेदारने उससे कहा—"अबे, जो होना है, वह तो होता ही है, तू क्यों ज़मींदारसे दुश्मनी बाँधता है। हाथ जोड़कर माफ़ी माँग ले और आरामसे अपने घर जा। कुछ तेरे ही साथ तो यह नई बात नहीं है।"

रामभज झुका नहीं, तो चोरीमें चालान हो गया। सबूत सब ठीक था ही, छः महीनेकी जेल उसे हो गई। उस दिन कचहरीमें गाँवका एक आदमी मिल गया, तो रामभजने कहा—"ठाकुरसे कह देना, जितने दिन

मैं जेल में हूँ, उतने ही दिन वो दुनियामें है। जो खाना हो, खा ले। जो करना हो, कर ले। बस मैं आया कि उसका लदान हुआ। देख तुझे क़सम है, ज़रूर कह देना ठाकुरसे।"

चमेली अपने बापके घर रही, रामभज जेलमें। तीन सप्ताहका रेमीशन मिला और यों रामभजकी पहली जेल कोई सवापाँच महीनेमें पूरी हुई।

[५]

"खट खट, टक टक!"

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे"

"जय हनुमान ज्ञान गुण सागर"

सर्दीकी सन्नाटे भरी रात, कोई तड़कमें चार बजे। गाँवके पक्के कुएँ पर डोल पड़ा, घिरड़ी खिंची खरड़-घरड़, तब पानीकी छप्प-छरर और सरदीसे काँपते होंटों भगवान्‌के नामका यह स्मरण। गाँव भरमें एक लहर-सी दौड़ गई—कौन आया है?

बढ़ी हुई दाढ़ी, गलेमें तुलसीकी माला, माथे पर चन्दन और कन्धोंको लपेटती चादर; सुबह ही सुबह रामभज गाँवके बड़े बूढ़ोंके पैरों पड़ता, हमजोलियोंसे गलबाहीं मिलता, बच्चोंको पुचकारता और माँ बहनोंको हाथ जोड़ता, सिर नमाता घर-घर घूमा। उसने सबसे एक ही बात कही--"जेलकी कालकोठरीमें भैया, खूब भगवान्‌का भजन किया और जीवनका सुफल पाया। भगवान् जो करते हैं, भला ही करते हैं। हनुमानजी ठाकुरके मनमें न बैठते, तो वह मुझे जेल न भिजवाता और मैं जेल न जाता, तो भगवान्‌की कृपा मुझपर न बरसती। मेरे मनमें किसीकी तरफ़से कड़वाहट नहीं है। सब रामके ही रूप हैं, फिर मैं किसे बुरा कहूँ?"

ठाकुरकी हवेलीपर भी वह गया और ठाकुरके पैरोंमें लेटकर खूब

रोया, उन्हें ही अपने इस नये जीवनका विधाता मानकर उसने उन्हें बहुत-बहुत धन्यवाद दिया और उन्हींके घर भोजन कर वह लौटा।

रामभजमें ग़ज़बका परिवर्तन हो गया था। सबके चार काम करके वह चलता, सबसे मीठा बोलता। और तो और, ठाकुर साहबकी हवेली-पर भी वह रोज़ चक्कर लगाता, उनकी चिलम मना करने पर भी भर देता, भैंसकी कुट्टी-सानी देख लेता और उनके बच्चोंको खिला आता।

मन्दिरमें वह दोनों समय जाता, घंटों कीर्तन करता और लहराकर गाता--परभूजी मेरे औगुण चित न धरो ! पाँच-सात दिनमें ही लोग उसे भगतजी कहने लगे और उसका नाम रामभज भगत पड़ गया।

गाँवके बड़े-बूढ़े कहते--"भगवान्‌की माया है, गया था चोर बनकर, आया भगत होकर।"

शिवराम कांग्रेसी कहता--"योगिराज अरविन्द घोषको भी जेलमें ही ज्ञान प्राप्त हुआ था।"

ठाकुर साहबने एक दिन एकान्तमें बुलाकर कहा--"रामभज, किसी तरहकी दिक्कत हो तो मुझसे कहना और पुरानी बातको···"

रामभज बीचमें ही बोल उठा--"आप तो गाँवके राजा हैं ठाकुर साहब ! फिर आप अपने आप तो राजा नहीं हो गये। भगवान्‌ने ही तो आपको राजा और मुझे माली बनाया है। मुझे कोई दिक्क़त होगी, तो दौड़कर परसादके लिए अपने भगवान्‌के द्वार पर आऊँगा ही !"

[६]

कोई दो महीने बाद, एक दिन शामका समय।

ठाकुर साहब अपनी हवेलीसे निकल रहे थे कि दरवाज़े पर ही रामभजने उन्हें धर-दबोचा और जब तक उनका शोर सुन, घरके लोग

दौड़े, रामभजने अपनी चादरमें छुपे तेज़ गँड़ासेसे ठाकुर साहबका सिर कुट्टीकी मूठ-सा देहली पर रख, एक ही वारमें उड़ा दिया।

घरवालोंका चीत्कार सुन, पास-पड़ौसके लोग आये और तब गाँव आ जुड़ा, रामभजने ठाकुरसे अपना बदला ले लिया; यह सब कह रहे थे, पर रामभजका कहीं पता न था।

रात में १०-११ बजे पासके पुलिस थानेमें रिपोर्ट लिखाई गई--"अभी-अभी रामभजने गँडासेसे ठाकुर साहबका खून कर दिया।" प्रत्यक्षदर्शी गवाहोंमें ठाकुर साहबके भाई-भतीजे और नौकर थे।

गाँवमें आनेपर कुछ लोगोंने थानेदारसे अपने बयानमें कहा--"रामभजको दो दिनसे गाँवमें हमने नहीं देखा था और कई दिन पहलेसे वह घरवालीको लानेके लिए ससुराल जानेको कह रहा था।"

उसी रातमें गाँवसे कोई २०-२२ मील दूरके एक दूसरे थानेमें थानेदारके घरमें चोरी करता हुआ एक चोर सुबह कोई ५ बजे पकड़ा गया, पर रिपोर्टमें दीवानने लिखाया--"मैं तड़कमें कोई दो बजे राउण्डके लिए उठा, तो मुझे दारोगाजीके अस्तबलकी दीवारमें एक पाड़ दिखाई दिया। मैंने फ़ौरन अपने दो सिपाहियोंको जगाकर, एकको तो अपने साथ पाड़ पर रख लिया और दूसरेको बड़े दरवाज़ेसे भेजा कि वह दारोगाजीको आगाह कर दे। दारोगाजीके जागते ही, चोर पीड़मेंसे निकलकर भागनेकी तैयारीमें ही था कि हम दोनोंने उसे दबोच लिया। उसके पाससे बहुत-सा ज़ेवर मिला, जो उसने कमरके साथ एक फ़ैटेसे बाँध रक्खा था। रोशनीमें देखकर मैंने उसे पहचान लिया कि यह इलाकेका मशहूर चोर रामभज है, जो अभी कुछ दिन पहले चोरीके इलज़ाममें सजा भुगत चुका है।"

केस मज़बूत था। रामभजको एक सालकी सजा हो गई। ठाकुर साहबके घरवालोंने खूनके मामलेमें रामभजको बहुत लपेटा, पर पूरा थाना

रामभजका गवाह था, उनकी एक न चली। रामभज हमारी बाग़-कमानका इन्चार्ज बना, अपनी यही जेल काट रहा था, जबकि मैं एक मुशक्क़ती क़ैदीके रूपमें उसकी बाग़-कमानमें आया।

रामभज बड़ा तगड़ा नौजवान था। उसने मुझे बताया कि ठाकुरको निमटाते ही मैंने कुलाँचें भरीं और जंगलों-जंगल दूसरे थानेमें जा पहुँचा। वहाँका अता-पता मैं पहले ही देख आया था। बस पाखानोंकी तरफ़से ज़रा-सी दीवार फिरक, भीतर घुस गया और आरामसे मठरियाँ खाता रहा; जैसे भलीमानुष दरोगनने मेरे ही लिए बनाकर रख रक्खी थीं। जब हल्ला-गुल्ला मचा, तो मैंने भागने का सांग-सा किया और पकड़ा गया मास्टर !

[७]

एक दिन मैंने कहा—"रामभज भाई, काम तो तुमने बुद्धि और बहादुरीका किया, पर ज़िन्दगी तुम्हारी भी बर्बाद ही हो गई। तुम दो बार चोरीमें जेल आ चुके, अब पुलिस तुम्हें बाहर रहने नहीं देगी और जेल काटते तुम्हारा जीवन बीतेगा, तो रोते चमेलीका।

रामभज इतने ज़ोरसे हँसा कि मैं भौंचक उसे देखता रह गया। तब बोला—"मास्टरजी, रामभज भगत तो अब जेल आ नहीं सकते। जेलसे छूटते ही चमेलीको लेकर बम्बई चला जाऊँगा और वहीं कमाऊँ-खाऊँगा। और नहीं तो फिर जिस थानेदारने जेल भेजा है, साल भर रात-दिन उसकी खिदमत करके निगरानीसे नाम कटा लूँगा। आप तो विद्वान् हैं—साँचको कहीं आँच नहीं। सेवा करे, सो मेवा पावै।"

उसकी योजना और आत्म-विश्वास दोनों इतने अद्भुत थे कि मैं उसे उस दिन देखता क्या रह गया; कल्पनामें आज भी देखता ही रह जाता हूँ।

रामभजके चरित्रकी झाँकी ठीक-ठीक मैं उस दिन देख पाया, जब

एक दिन उसने मुझसे चमेलीको खत लिखाया। यह खत तिकड़मसे एक छूटने वाले क़ैदीके हाथों जाना था। वह कहींसे कागज़ तो ले आया, पर लिखूँ किस चीज़से। हम सोच ही रहे थे कि जेलर साहब आ गये। रामभज उनके साथ हो लिया और कमाल देखिए कि बातों-बातोंमें उनकी जेबसे पार्कर फाउण्टेनपेन खिसका लाया। मैंने खत लिख दिया और रामभज वह पेन जेलरकी मेजपर रख आया। जेलके वार्डन तीन रुपयेमें उस पेनको खरीद रहे थे, पर रामभजने नहीं बेचा। जेलके जीवनमें तीन रुपये तीन गिन्नियाँ थीं, पर उसने कहा—"अरे, मैं कोई चोर हूँ। यह तो ज़रूरत थी कि पेन ले आया!"

अपना खाना, खानेका समय होनेके बाद आये कांग्रेसी क़ैदियोंको खिलाकर भूखा रह जाना, उसके लिए मामूली बात थी। रातमें घण्टे बूढ़े क़ैदियों और बीमारोंके पैर दबाना उसका रोज़का काम था। नये क़ैदीके आनेपर वह उससे मिलता, उसे जेलके क़ायदे समझाता, जेलसे उसे परिचित कराता और सत्तेपमें उसे जेल काटनेके लायक बनाता। सच यह कि जेलमें देशके अनेक स्वयंसेवक थे, पर मानवताका सर्वोत्तम स्वयंसेवक तो रामभज ही था!

उस युगकी जेलोंमें मिठाई दुर्लभ थी; फिर सी क्लासमें तो वह स्वर्ग का अमृत ही थी। लोगोंकी जीभ मिठाई, तो क्या मिठासके लिए ही तरसा करती। रामभज छाँटकर बाग़से एक बन्दगोभी लाता और उसके हरे पत्ते तोड़कर भीतरके सफ़ेद पत्ते निकालता। अब वह जंगलोंमेंसे सबको एक-एक पत्ता देता चला जाता! लोग उसे रेवड़ी समझ धीरे-धीरे स्वाद लेकर खाते। अभावमें भाव कितना दुर्लभ हो जाता है और कितना सुलभ! किसी दिन वह प्याज-धनियेकी चटनी बनाता और एक-एक उंगली सबको बाँट आता। घरमें बैठे गोभीके उस पत्ते और चटनीकी इस उंगलीके दान का महत्त्व कौन समझ सकता है?

रामभज न उस तरह भगत था, न इस तरह चोर, पर जनजीवनमें

वह रामभज भगत था, तो कानूनी जीवनमें अपने इलाकेका मशहूर चोर। जो हो, वह एक ऊँचे दर्जेका नागरिक था, जो इज़्ज़तके लिए, ग़ैरतके लिए, हँसकर कष्ट उठा सकता है, पर इज़्ज़त और ग़ैरतके दामों कभी आरामकी चाह नहीं करता !

मैंने बार-बार सोचा है—उसकी जेल कानूनकी दृष्टिमें दण्ड थी, पर क्या धर्मकी दृष्टिमें यज्ञ और राष्ट्रीय दृष्टिमें बलिदान न थी ?

निश्चय ही उसने ठाकुरकी हत्या की थी—वह हत्यारा था, पर क्या यह हत्या राम द्वारा रावणकी हत्यासे कम शानदार थी ?

इतिहासमें राम राम हैं और रामभजका नाम नोट करनेकी उसे फ़ुरसत कहाँ, पर मानवताके मंचपर अपनी पत्नीके सम्मानके लिए सब कुछ दावपर लगानेवालोंमें क्या दोनों एक साथ नहीं खड़े हैं ?

उसे फाँसी नहीं लगी, वह शहीद न हो पाया, पर क्या फाँसीके लिए तैयार होकर ही उसने गँड़ासेकी मूँठपर हाथ नहीं रक्खा था ?

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

दार्शनिक, आध्यात्मिक

१. भारतीय विचारधारा २)
२. अध्यात्म-पदावली ४॥)
३. वैदिक साहित्य ६)

कहानियाँ

४. संघर्षके बाद ३)
५. गहरे पानी पैठ २॥)
६. आकाशके तारे : धरतीके फूल २)
७. पहला कहानीकार २॥)
८. खेल-खिलौना २)
९. अतीतके कम्पन ३)
१०. जिन खोजा तिन पाइयाँ २॥)
११. नये बादल २॥)
१२. कुछ मोती कुछ सीप २॥)

कविता

१३. वर्द्धमान [महाकाव्य] ६)
१४. मिलन यामिनी ४)
१५. धूपके धान ३)
१६. मेरे बापू २॥)
१७. पञ्चप्रदीप २)

संस्मरण रेखाचित्र

१८. हमारे आराध्य ३)
१९. संस्मरण ३)
२०. रेखा-चित्र ४)
२१. जैन जागरणके अग्रदूत ५)

ऐतिहासिक

२२. खण्डहरोंका वैभव ६)
२३. खोजकी पगडण्डियाँ ४)
२४. चौलुक्य कुमारपाल ४)
२५. कालिदासका भारत [१-२] ८)
२६. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन [भाग १,२] ५)

उर्दू-शायरी

२७. शेरो-शायरी [द्वि. सं.] ८)
२८. शेरो-सुखन [पाँचों भाग] २०)

राजनीति

२९. एशियाकी राजनीति ६)

ज्योतिष

३०. भारतीय ज्योतिष ६)
३१. केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि ४)
३२. करलक्खण [द्वि० सं०] ॥)

नाटक

३३. रजतरश्मि २॥)
३४. रेडियो-नाट्य-शिल्प २॥)
३५. पचपनका फेर ३)
३६. और खाई बढ़ती गई २॥)

उपन्यास, सूक्तियाँ

३७. मुक्तिदूत ५)
३८. तीसरा नेत्र २॥)
३९. रक्तराग ३)
४०. ज्ञानगङ्गा [सूक्तियाँ] ६)

निबन्ध, आलोचना

४१. ज़िन्दगी मुसकराई ४)
४२. संस्कृत साहित्यमें आयुर्वेद ३)
४३. शरत्‌के नारीपात्र ४॥)
४४. क्या मैं अन्दर आ सकता हूँ ? २॥)
४५. माटी हो गई सोना २)
४६. बाजे पायलियाके घुँघरू ४)

विविध

४७. द्विवेदी-पत्रावली २॥)
४८. ध्वनि और सङ्गीत ४)
४९. हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान १)